

अध्याय : तृतीय

जे. कृष्णमूर्ति का शिक्षा दर्शन

दर्शन का अर्थ

दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की 'दृ' धातु से मानी गई है। जिसका अर्थ देखना या अवलोकन करना, देखना दर्शन का साधारण सा अर्थ है। उपनिषदों की मान्यता है कि जिससे देखा जाए अर्थात् सत्य के दर्शन किए जाएँ, वह दर्शन है— 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' जिसके द्वारा देखा जाए, और जो कुछ देखा जाय वही दर्शन है। दर्शन से ज्ञान—अज्ञान ब्रह्म, परम तत्व या परम सत्य के वास्तविक सत्य का बोध होता है। हम अपनी आँखों से विषयों के रूप में देखते हैं, अतः विषयों के रूप का परिचय ही दर्शन है। दार्शनिक 'दर्शन' शब्द का असाधारण या विशेष अर्थ स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार दर्शन दृश्यावलोकन नहीं, तत्त्वावलोकन है। स्पष्ट है कि दर्शन तत्व के स्वरूप का ज्ञान है 'आत्मा को जानो' ;आत्मानं विद्धि भारतीय दर्शन का उद्घोष है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक, इन तीन प्रकार के दुःखों का आत्यान्तिक नाश एवं अखण्ड आनन्द की प्राप्ति, भारतीय दर्शन का लक्ष्य है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन इस लक्ष्य प्राप्ति के त्रिविध साधन है। दर्शन और धर्म का घनिष्ट सम्बन्ध है। महर्षि याज्ञवल्क्य का उपदेश 'आत्माव अरे द्रष्टव्यः श्रेतव्यो मन्तको निदिध्यासित्वयः वृहउपनिषद से है। भारतीय दर्शन और धर्म का मूलमन्त्र है। इसका अर्थ है आत्मा साक्षात् अनुभव करने योग्य है और यह अनुभव श्रवण ;श्रुति—वाक्यों के श्रवण क्या पठन सेद्ध मनन ;युक्तियुक्त बौद्धिक चिन्तनद्ध तथा निदिध्यासान से ;ध्यान और समाधि सेद्ध प्राप्य है। चार्वाक को छोड़कर, लगभग सभी भारतीय दर्शन ने इसे न्यूनाधिक रूप से स्वीकार किया है।

भारतीय दर्शन तो यहां तक कहते हैं 'ज्ञान तो क्रिया के बिना भार ;ज्ञानम् क्रिया बिना भारःद्ध है और आचार के बिना विचार व्यर्थ। पाश्चात्य दार्शनिक को 'ज्ञान के प्रतिप्रेम'

समझकर बुद्धि या ज्ञान को ही दर्शन का क्षेत्र समझते हैं तथा धर्म का आचरण को विषय समझते हैं पाश्चात्य दर्शन ने बौद्धिक चिन्तन को प्रधानता दी है।

भारतीय दर्शन के अनुसार दर्शन का दूसरा नाम तत्व दर्शन भी है क्योंकि तत्व-बोध करना ही इसका कार्य है, तत्व को दार्शनिक अंतिम सत्य की संज्ञा देते हैं। अतः तत्व-दर्शन, सत्य-दर्शन भी कहलाता है। परम तत्व और चरम सत्य में भेद नहीं स्वीकार करते। इस प्रकार भेद-अभेद दृष्टा दर्शक नहीं दार्शनिक है। दर्शक केवल दो आँखों से देखता है लेकिन दार्शनिक को तृतीय नेत्र ;दिव्य-दृष्टिद्ध होता है, जिससे वह तत्व-बोध या सत्योपलब्धि करता है। तीसरा नेत्र तो दिव्य चक्षु है, जिससे अनन्त और अपार का बोध होता है। साधारण आँखों से मनुष्य असीम और शान्त वस्तुओं को देखता है परन्तु असीम और अनन्त के रहस्योद्घाटन के लिए असाधारण ;अलौकिकद्ध आन्तरिक ;दिव्यद्ध दृष्टि की आवश्यकता है।

आन्तरिक दृष्टि ही सत्य की उपलब्धि करने में समर्थ है। संसार सत्य असत्य से ;सच झूठे सेद्ध ही आवृत्त है। इसे अनावृत्त करना ;अंधकार को दूर करनाद्ध ही आन्तरिक दृष्टि ;दर्शनद्ध का कार्य है। वेद के एक मंत्र में सत्य के अनावृत्त होने की क्रिया को एक रूपक द्वारा स्पष्ट किया गया है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यश्याविहिप मुखम

तत्व पूषपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।

— ईशानुपनिषद-मंत्र

अर्थात् सूर्य-मंडन में सत्य ;तत्व-ब्रह्मद्ध का मुख प्रकाशमय पात्र से ढका हुआ है। हे पूषन्! मुझे सत्यधर्मों को आत्मा की उपलब्धि के लिए, तू उसे उघाड़ दे अर्थात् पात्र को सामने से हटा ;जिससे मुझे सत्य तत्व का साक्षात्कार हो सकेद्ध इस मंत्र से स्पष्ट है कि सत्य का अनावृत्त कर तत्व का साक्षात्कार करना ही दर्शन है। सत्य का साक्षात्कार इन चर्म चक्षुओं से नहीं हो सकता तथा जिस सत्य का साक्षात्कार करने के लिए आन्तरिक

या दिव्य दृष्टि की आवश्यकता है? इसका सबसे सुन्दर उदाहरण भगवद्गीता में मिलता है। शोक-सागर निमग्न और मोहाध अर्जुन को श्रीकृष्ण स्वजन, सखा, सहायक और संरक्षक दिखायी पड़ते थे। ग्यारहवें अध्याय में भगवान कृष्ण ने उन्हें 'दिव्य दृष्टि' प्रदान की -

'दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्च में योगमैस्वरम'

- गीता ॥ अध्याय 8 श्लोक

अर्जुन के आन्तरिक नेत्र खुल गये, विवेक जग गया, प्रज्ञा प्रस्फुटित हो गयी और वे श्रीकृष्ण के विराट रूप का दर्शन करने लगे।

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वास्तथा भूत विशेष संधान्।

ब्रह्ममाणमीशं कमलासनस्थमृषीश्च सर्वानुरगाश्च दिव्यान्॥

- गीता 1 अध्याय ;15 श्लोकद्ध

श्रीकृष्ण अब अपने सगे सम्बन्धी नहीं परम पुरुष परमात्मा, परमपिता, देव, देवाधिदेव, महादेव, सम्पूर्ण सृष्टि के कर्ता-धर्ता और सहतो, सबकी गति, स्थिति और विनाश के कारण दिखाई देने लगे। अब अर्जुन सभी भूतों में भगवान ;कृष्णद्ध और भगवान ;कृष्णद्ध में सभी भूतों को देखने लगे।

महात्मना मनु ने दर्शन को सम्यक- दर्शन अर्थात् सम्पूर्ण को देखने वाला बतलाया है।

शाब्दिक अर्थ- में दर्शन अंग्रेजी शब्द ;चैपसवेवचीलद्ध 'फिलॉसोफी' शब्द से किया जाता है। यह शब्द 'फिलोस' ;चैपसवेद्ध और 'सोफिया' ;वचीपद्ध इन दो ग्रीक पदों से बना है जिनका क्रमशः 'फिलोस' का अर्थ है 'प्रेम' और सरस्वती या विद्या देवी' तथा सोफिया का अर्थ होता है 'ज्ञान' इस प्रकार 'फिलॉसफी' का अर्थ है ज्ञान से प्रेम या ज्ञान से अनुराग। वास्तव में यदि देखा जाए तो दर्शन चिन्तन का विषय न होकर अनुभूति का विषय है जो समग्र व्यक्तित्व को अपने में समा लेता है, इससे बौद्धिक तृप्ति का आभास ही नहीं होता वरन् यह मनुष्य का समग्र व्यक्तित्व बदलता है, इसी कारण विद्वान दर्शन का

अर्थ आत्मानुभूति का विषय मानते हैं। प्रसि(शिक्षा शास्त्री व दार्शनिक प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' में कहा है, जो व्यक्ति ज्ञान को प्राप्त करने तथा नई-नई बातें जानने के लिए रूचि करता है तथा जो कभी सन्तुष्टि नहीं होता उसे दार्शनिक कहा जाता है। अतः इस कथन से स्पष्ट है कि दार्शनिक के लिए अनिवार्य है कि वह ज्ञान के प्रति जिज्ञासु हो।

दर्शन के वैज्ञानिक अर्थ की चर्चा प्रसि(दार्शनिक 'हैण्डरसन' ने भी की उनका विचार है कि 'दर्शन ऐसी सबसे जटिल समस्याओं का कठिन अनुशासित तथा सावधानी के साथ किया हुआ विश्लेषण है, जिसका मानव ने कभी अनुभव किया है'। शापनहार्वर – की मान्यता यह है कि संसार का प्रत्येक व्यक्ति जन्मजात दार्शनिक है।

वहीं भारतीय दर्शन सा विद्या या विमुक्तये या अमृतं तु विद्या श्वेता के अनुसार विद्या या ज्ञान उसे मानता है जिससे मुक्ति प्राप्त होती है या जिससे अमृत स्वरूप का बोध होता है, वही दर्शन है।

बर्देण्ड रसेल – की मान्यता यह है कि अन्य क्रियाओं के समान दर्शन का मुख्य उद्देश्य ज्ञान की प्राप्ति है।

ब्राइटमैन – दर्शन की परिभाषा ऐसे प्रयास के रूप में दी जा सकती है, जिसमें मानव अनुभूति के सम्बन्ध के समग्र रूप में सच्चाई से विचार किया जाता है या जो हमारी सम्पूर्ण अनुभूतियों को बोधगम्य बनाता है।

डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार – यर्थाथता के स्वरूप का तार्किक विवेचन ही दर्शन है।

जे. कृष्णमूर्ति के अनुसार दर्शन की परिभाषा – दर्शन वह जो हमें सत्य के लिए प्रेरित 'जीवन के लिए प्रेम' तथा 'प्रज्ञा के लिए प्रेम' जागृत करता है। दर्शन व्यक्ति को उसके वास्तविक स्वरूप का बोध कराता है कि 'मैं कौन हूँ' वाह्य एवं आन्तरिक जगत् में होने वाले प्रत्येक स्पन्दन का प्रतिक्षण बोध होना ही वास्तविक दर्शन है।

शब्दकोश के अनुसार फिलासफी का अर्थ है— सत्य का प्रेम, जीवन का प्रेम, प्रज्ञा का प्रेम न कि एक—एक करके सि(न्तों को जोड़े जाने वाले दूसरों को उत करना और यह बताना कि उन्होंने क्या बताया है। संसार भर के विश्वविद्यालय कालेज स्कूल बु(ि को प्रतिब(करने में लगे हैं।

शिक्षा एवं दर्शन में सम्बन्ध

ऐसा माना जाता है कि शिक्षा और दर्शन का एक दूसरे से अटूट सम्बन्ध है क्योंकि दोनों मानव जीवन में सुख एवं शान्ति लाने की चेष्टा करते हैं। इसलिए इन दोनों में अन्योनाश्रित सम्बन्ध है। जहाँ एक ओर दर्शन जीवन के लक्ष्य की ओर इंगित करता है वही शिक्षा उस साध्य को प्राप्त करने के लिए साधन की भाँति प्रयुक्त की जाती है, जिस प्रकार साधन एवं साध्य अन्योन्याश्रित हैं, उसी प्रकार शिक्षा एवं दर्शन भी एक दूसरे पर आश्रित होते हैं। शिक्षा, दर्शन की प्रयोगशाला है, जिस प्रकार विज्ञान के सि(न्तों एवं नियमों को प्रयोगशाला में बार—बार जाँचा जाता है, तब उन्हें सही माना जाता है, उसी प्रकार दर्शन मानव जीवन के जिन आदर्शों को उपयोगी एवं सत्य बताता है उनकी जाँच शिक्षा करती है।

शिक्षा एवं दर्शन का सम्बन्ध शरीर एवं चेतना के समान है। जिस प्रकार शरीर के बना चैतन्य प्रकट नहीं होता और चेतना के बिना शरीर का कोई अर्थ नहीं रह जाता है, उसी प्रकार दर्शन, शिक्षा के माध्यम से ही अपने को प्रकट करता है और शिक्षा दर्शन के बिना निष्प्राण है। शिक्षा एवं दर्शन के बीच एक गहरा सम्बन्ध है इसलिए दोनों ही विषयों के संयोजन से 'शिक्षा—दर्शन' नाम विषय का विकास हुआ। दर्शन मानव जीवन का लक्ष्य निर्धारित करता है। और शिक्षा उस लक्ष्य की प्राप्ति का साधन है। इस प्रकार शिक्षा एवं दर्शन में साधन एवं साध्य का सम्बन्ध होता है। शिक्षा—दर्शन, दर्शन का वह भाग है जो जीवन एवं शिक्षा के लक्ष्य को निश्चित करता है और शिक्षा की प्रक्रिया को निर्धारित करता है। शिक्षा और उसकी समस्याओं के प्रति दर्शन के दृष्टिकोण को ही

शिक्षा-दर्शन कहते हैं। जे० कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि शिक्षा-दर्शन एक ऐसा विषय है जो दर्शन के दृष्टिकोण से शिक्षा के समस्त कार्यों, क्रियाओं, समस्याओं आदि का अध्ययन करता है तथा समस्याओं को समसामयिक समाधान प्रस्तुत करते हुए शिक्षा की प्रक्रिया को उचित दिशा में मोड़ देता है।

जे० कृष्णमूर्ति जी शिक्षा-दर्शन पर अपनी अभिव्यक्ति करते हुए कहा है कि शिक्षा-दर्शन शिक्षा के सभी पहलुओं पर विचार व्यक्त करता है। शिक्षा का उद्देश्य हो, उस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए क्या पाठ्यक्रम बनाया जाय तथा उद्देश्य की प्राप्ति के लिए पढ़ाने की विधि क्या हो? इन सब बातों पर शिक्षा-दर्शन में विचार होता है। शिक्षण विधियों पर मुख्य रूप से शिक्षा-विज्ञान पर विज्ञान के ऊपर विचार होता है, किन्तु शिक्षा विज्ञान भी शिक्षा दर्शन से प्रभावित होता रहता है। वस्तुतः प्रारम्भ में विज्ञान दर्शन का ही एक भाग था। प्रारम्भ में ज्ञान को विभिन्न शाखाओं में नहीं बाँटा गया था, उस समय ज्ञान की सभी शाखाएँ दर्शन ही थी। बेल्लस पश्चिमी दर्शन का जन्मदाता था, किन्तु उसने वैज्ञानिक प(ति अपनायी थी। अरस्तु उच्च कोटि का दार्शनिक था, किन्तु वह विज्ञान का जन्मदाता माना जाता है। गणित ने सबसे पहले अपने को दर्शन से पृथक कर लिया। गणित में निश्चितता रहती है, इसके प्रश्न भी निश्चित होते हैं और उत्तर भी। इसके पश्चात् नक्षत्र विद्या ने अपने को दर्शन से पृथक कर लिया धीरे-धीरे अन्य विज्ञानों ने भी अलग होकर भौतिकी, रसायन, जीवन विज्ञान आदि के रूप में अपने पृथक अस्तित्व बना लिए। गणित दर्शन की मनन प(ति पर आधारित है। दार्शनिक एवं गणित की प(ति एक सी होती है। अन्तर इतना ही है कि गणित कुछ स्वयं सि(थिँ मानकर चलता है यदि क एवं ख दोनों ग के बराबर है तो वे एक दूसरे के बराबर है। इस धारणा को हम सि(नहीं कर सकते। दर्शन किसी ऐसी धारणा को मानकर नहीं चलता। इसीलिए गणित ने दर्शन से अपने को पृथक कर लिया। सभी विज्ञान अन्ततः दर्शन का आश्रय लेते हैं। इसलिए तो दर्शन को विज्ञानों का विज्ञान कहा गया है। शिक्षण विधियों के क्षेत्र में विज्ञान तो योगदान

देता ही है, शिक्षा-दर्शन योगदान भी कम नहीं है। शिक्षण विधि गणित का कोई सूत्र नहीं है जिससे कह दिया जाय कि इस पग के बाद यह पग उठाया जायेगा। यह तो शैक्षिक उद्देश्य पाठ्यक्रम एवं शिक्षार्थी से प्रभावित होता, इसीलिए शिक्षण विधि को भी शिक्षा-दर्शन का क्षेत्र बनाया गया है। जहाँ तक शैक्षिक उद्देश्यों का प्रश्न है, यह तो निश्चित रूप से शिक्षा-दर्शन का ही विषय है। शैक्षिक उद्देश्यों का निश्चय करना, प्रत्येक शैक्षिक क्रिया के लिए आवश्यक है। बिना दिशा का ज्ञान किये हुए चल देने से लक्ष्य नहीं मिल सकता, और यदि कही उल्टी दिशा में चल दिये तो लक्ष्य और दूर ही होता जायेगा। इसलिए शैक्षिक उद्देश्यों का ज्ञान परमावश्यक है। जॉन डी०वी० भी जहाँ शैक्षिक साधनों के लिए शिक्षा-विज्ञान की ओर संकेत करते हैं वहाँ पर शैक्षिक उद्देश्यों के निश्चयन के लिए दर्शन को ही आधार मानकर चला जाता है। पाठ्यक्रम का निर्धारण भी दिशा-दर्शन का क्षेत्र है। दार्शनिक किसी भी ज्ञान को अनादर की दृष्टि से नहीं देखता। हरवर्ट स्पेन्सर ने कहा है कि—“सच्चा दार्शनिक ही सच्ची शिक्षा को व्यवहारिक बना सकता है” शिक्षा-दर्शन के ज्ञान के अभाव में शिक्षक साध्य एवं साधन को भेद नहीं समझ पाता और कभी-कभी तो वह इन दोनों में उलट फेर कर देता है। यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति होती है ऐसी स्थिति से बचने के लिए एकमात्र दर्शन ही हमारा पथ प्रदर्शक होता है।

शिक्षा-दर्शन सामान्यतः ज्ञान के विभिन्न विषयों में एवं विशेषतः शिक्षा की विभिन्न शाखाओं में समन्वय स्थापित करता है। यदि यह समन्वय की ओर ध्यान न दिया जाय तो शिक्षक का कार्य प्रभावहीन हो जाता है इसलिए रस्क महोदय ने लिखा है कि – “जो शिक्षा-दर्शन की उपेक्षा करते हैं उन्हें अपने कार्यों को प्रभावहीन बना डालने के रूप में इस उपेक्षा का दण्ड भुगतना पड़ता है।

शिक्षा-दर्शन शिक्षक को आचार्यवान बनाने में सहायता प्रदान करता है और सच्चा गुरु बनने की प्रेरणा देता है अतः प्रत्येक शिक्षक को शिक्षा-दर्शन का ज्ञान होना परमावश्यक है। शिक्षक को शिक्षण की सफलता के लिए दार्शनिक बनना ही पड़ेगा सच्चा शिक्षक सच्चा

दार्शनिक होता है। शिक्षकों को शिक्षा विज्ञान से बड़ी सहायता मिलती है और वह अनेक समस्याओं को शिक्षा-विज्ञान से सुलझा सकता है, किन्तु बिना शिक्षा-दर्शन के सफल शिक्षक नहीं बन सकता। दर्शन में ऐसी समस्याओं पर प्रकार डाला जाता है जो जीवन का आधार है तथा शिक्षा उन समस्याओं का हल ढूँढ़कर व्यक्ति को स्वस्थ मानसिकता प्रदान करता है। उसकी तमाम शंकाओं को दूर करता है। इसलिए दर्शन हमारे जीवन को सफलीभूत करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।

कृष्णमूर्ति दर्शन की विशेषताएँ

कृष्णमूर्ति जी की गणना उन थोड़े से प्रज्ञावान पुरुषों में की जाती हैं, जिन्होंने जीवन को उनकी अनन्त गहराइयों तक समझने तथा लोगों को जागृत करने में अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर दिया है। आपकी दृष्टि परम्पराओं की लीक से हटकर जीवन के वास्तविक तथ्यों को वस्तुपरक एवं प्रत्यक्ष दर्शन कराने में सहायक सि(होती है। वे अपने व्याख्यानों तथा लेखों में परम्परागत रूप से प्रयुक्त होने वाली शब्दावलियों से भी अपने को बचाने का प्रयास करते हैं। यदि वे किसी परम्परागत शब्द का प्रयोग करते भी हैं तो उसे पूरी तरह स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं कि इन शब्दों का किन अर्थों में प्रयोग किया गया है। जब वे ईश्वर, प्रेम, ध्यान तथा धर्म आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं तो प्रयोग में बड़ी सावधानी बरतते हैं। उनका मानना है कि सत्य तक पहुँचने के लिए न तो कोई राजमार्ग ही है न ही उस राजमार्ग की कोई परम्परा ही होती है। सत्य तो स्वयं के भीतर छिपा है जो सम्बन्धों के दर्पण द्वारा अपने को प्रकट करता है।

सत्य की खोज कैसे

प्रश्न यह है कि जब सत्य या अनन्त जीवन की खोज का लक्ष्य है तो सत्य की खोजी उस शाश्वत सत्य को जिसमें सम्पूर्ण जीवन समाया हुआ है और सर्वत्र उसी की सत्ता है, कैसे खोज करें? सत्य की खोज के लिए कौन सा मार्ग अपनाया जाय? किसे अपना मार्ग दर्शन बनाया जाय? इन प्रश्नों के सन्दर्भ में जे. कृष्णमूर्ति का कहना है कि

सत्य एक पथहीन भूमि है, इस तक पहुँचने के लिए किसी पथ, पुरोहित क्रियाकांड तथा गुरु आदि का अवलम्बन नहीं लिया जा सकता, क्योंकि कोई सहारा भी सत्य की खोज में बाधक होता है। वास्तविकता यह है कि सर्वत्रसत्य की ही सत्ता है, परन्तु हमारा तन खण्डों में बंटा है, अतः उस अखण्ड को खण्डों में देखने के अभ्यस्त हो गये। जिस प्रकार खण्डित दर्पण द्वारा शाश्वत एवं अखण्ड जीवन का अनुभव नहीं हो पाता। अपने अनुभवों को प्रकट करते हुए कहते हैं कि— 'मैं निश्चय पूर्वक कहता हूँ कि सत्य, शाश्वत जीवन प्रत्येक मनुष्य के भीतर छिपा पड़ा है पर यह स्वचेतना के द्वारा ढँका हुआ है। सम्पूर्णता में द्वैत भावना नहीं हो सकती, क्योंकि द्वैत भावना सिर्फ स्वचेतना में ही उत्पन्न होती है। शु(कार्य का स्रोत सम्पूर्णता में रहता है, परन्तु अच्छा और बुरा, द्वैत, स्वचेतना के भ्रम से उत्पन्न होते हैं। '

सत्य निरन्तर गतिशील एवं परिवर्तन शील है के सम्बन्ध में हेराक्लाइटस सि(त 'क्षणभंगवाद' तथा बौ(ों के 'क्षणिकवाद' या 'अनित्यवाद' की भाँति कृष्णमूर्ति जी भी सत्य को निरन्तर गतिशील तथा परिवर्तन शील मानते हैं। उनका कहना है कि सत्य कोई ठोस आदर्श नहीं है, वह कभी स्थिर रहता, गतिशीलता उसका गुण है, उसमें क्षण—क्षण परिवर्तन होता रहता है। जे कृष्णमूर्ति जी पुनः लिखते हैं कि जो वास्तव में है, वह निरन्तर गतिशील है, उसमें निरन्तर मौलिक परिवर्तन हो रहा है यदि मन विश्वास द्वारा संचित ज्ञान से जकड़ा रहता है तो वह जो वास्तव में है उसकी तीव्र गति का अनुशीलन करना, उसका अनुमान करना छोड़ देना है।

सत्य और कोई आदर्श नहीं होता है। आदर्श अवास्तविक होता है क्योंकि वह कल्पना प्रसत है, लेकिन वास्तविक 'जो है' है। इस सम्बन्ध में जे. कृष्णमूर्ति जी का विचार है कि—जैसा वास्तव में है आप वह नहीं हैं जैसा आप बनना चाहते हैं। वास्तविकता कोई आदर्श नहीं, क्योंकि आदर्श अयथार्थ होता है, वास्तविकता वास्तव में वही है जो आप प्रतिक्षण कर रहे हैं, सोच रहे हैं और अनुभव कर रहे हैं।

सत्य कोई धरना नहीं है यदि ऐसा होता तो किसी भी प्रबु(पुरुष के समसायिक सभी लोग सत्य को उपलब्ध हो गये।

सत्य कोई विचार की वस्तु नहीं है उसे सि(ान्तों या दर्शनिक मत—मतान्तरों के सहारे नहीं जाना जा सकता है। उसकी कोई कल्पना भी नहीं की जा सकती है। उसकी अनुभूति तो तभी होती है जब हिम अपनी समस्त धारणाओं पूर्वाग्रहों तथा धार्मिक क्रिया—कलापों की भागदौड़ से थककर शांत हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में हमारे मन की प्रकार से मृत्यु हो जाती है अर्थात् हमारा सम्पूर्ण अहंकार विसर्जित हो जाता है। यह एक ऐसी अवस्था है जिसमें समय ठहर जाता है और वह क्षण सम्पूर्णता का क्षण होता है। ऐसे क्षण में दृष्टा एवं दृश्य विचारक एवं विचार में कोई भेद नहीं रह जाता है। इसी अनुभूति को सम्पूर्णता की अनुभूति कहते हैं। इस संबंध में जे. कृष्णमूर्ति जी कहना है कि — 'सम्पूर्णता का र्थि है एक ऐसे क्षण में जीना जिसके सम्बन्ध में कभी सोचा नहीं गया है तथा जिसका सातत्य नहीं है। इसीलिए पूर्णता का विचार नहीं किया जा सकता, और इसे स्थायी बनाने का कोई मार्ग भी नहीं है। केवल वही मन जो अत्यधिक शांत नहीं है जो पूर्व धारणाएँ नहीं बना रहा है जो भाग—दौड़ नहीं कर रहा है, कल्पना नहीं कर रहा है वहीं पूर्णता के क्षण की अनुभूति कर सकता है ऐसा क्षण अपने आप में पूर्ण है।

जे. कृष्णमूर्ति जी मौथ्लक विचारक है तथापि के इस विरोध का एक उदाहरण हमें बु(के उपदेशों से मिलता है। बु(ने भी कहा था कि किसी विचार को श्र(ा के कारण ग्रहण करना उचित नहीं है। व्यक्ति स्वयं अपना प्रकाश है 'अन्तदीपा भिक्खवे विहरथ। इसी विचार की अभिव्यक्ति बहुत बलपूर्णक जापान के जेन सम्प्रदाय में हुई हैं। बाधा चाहे आन्तरिक हो या वाह्य को दूर करना चाहिए। कहने का अभिप्राय यह है कि सत्य के मार्ग पर चलने वाले को किसी भी परम्परा गत सि(ान्त को श्र(ा के साथ नहीं स्वीकार करना चाहिए।

जे. कृष्णमूर्ति जी इसी बात को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि सत्य किसी दूसरे के द्वारा तुम्हें नहीं दिया जा सकता। तुम्हें उसे खोजना है, और खोजने के लिए मन की कल्पनाओं, धारणाओं और अनुभवों का संग्रह किया है परन्तु मनुष्य का आन्तरिक स्वरूप क्या है? इस प्रश्न पर बहुत कम विचार किया है हमने यह जानने का बहुत कम विचार किया गया है मैं कौन हूँ मेरी सत्ता क्या है मेरे स्व का निर्माण कैसे होता है। स्व की सत्ता के संबंध में जे. कृष्णमूर्ति का कहना है कि इससे मेरा तात्पर्य एक धारणा, स्मृति, निष्कर्ष, अनुभव कुछ न होने के लिए सचेतन प्रयास, अचेतन में संग्रहीत स्मृति, प्रजाति समूह व्यक्ति वंश और इन सबकी समग्रता के रूप में इस सबके लिए प्रयास ही स्व है।

अपने मन अपने नाम पद कर्म के अतिरिक्त संस्कारों विचारों आदर्शों, परम्पराओं एवं अनुभवों के द्वारा मैं की एक प्रतिमा निर्मित करता है। यह वही प्रतिमा है जिसे हम दृष्टा कहते हैं। स्वयं के साथ-साथ यह मानव मन दूसरों के बारे में भी प्रतिमा निर्मित करता है। मैं ज्ञानी हूँ, मैं अहिंसक हूँ, मैं करुणावान दयावान हूँ मैं आदर्शवादी हूँ ये सब अपने बारे में बनाई गई प्रतिमा की विशेषताएँ हैं जबकि दूसरे मूढ़ अज्ञानी, निर्दयी एवं अंहकारी हैं ऐसा समझते हैं इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने तथा दूसरों के बारे में प्रतिमाएँ निर्मित करता रहता है। अपने बारे में बनायी गई प्रतिमा को 'दृष्टा' है अन्य के बारे में बनाई गयी प्रतिमा का जो दृष्ट है सदा मूल्यांकन करता रहता है वह दृष्टा अपने भीतर एक नहीं बल्कि अनेकों प्रतिमाओं को देखता है, जो वस्तु उसी की कृतिया हैं। यह दृष्टा एक स्थिर या जड़ वस्तु नहीं है बल्कि जो कुछ वह है उसमें सदा कुछ न कुछ जोड़ता और घटाता रहता है। दूसरे के बारे में बनाई गई प्रतिमा का जब दृष्टा मूल्यांकन करता है तो उस मूल्यांकन से स्वयं की प्रतिमा का निर्माण होता है, इस प्रकार दृष्टा एवं दृष्ट दोनों एक ही हैं। जे. कृष्णमूर्ति जी इसके बारे में कहते हैं कि केन्द्रीय प्रतिमा यानि वह दृष्टा ही अनुभवकर्ता, मूल्यांकनकर्ता और निर्माणक है, जो दूसरी सभी प्रतिमाओं पर विजय पाना चाहता है या उन्हें अपने अधीन करना चाहता है या फिर पूरी तरह उसे नष्ट कर

देना चाहता है। लेकिन चूंकि दूसरी सभी प्रतिभाएँ दृष्टा के मतों एवं निर्णयों के पक्ष हैं चूंकि दूसरी सभी प्रतिभाएँ दृष्टा के मतों एवं निर्णयों के पक्ष हैं और दृष्टा स्वयं उन सभी प्रतिमाओं का कस है— इसलिए दृष्टा ही दृश्य है। स्थिति ऐसी होनी चाहिए जिसमें प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हो सकता। जो है उसके प्रति चेतन होने से ही समझ आती, जो है जो यथार्थ, वास्तविक है उसे बिना व्याख्या किये, बिना धिक्कोर या उचित प्रमाणित किये, ठीक—ठाक जान लेना ही ज्ञान का आरम्भ है। जब हम व्याख्या करने लगते हैं, अपने अनुकूलन, अपने पूर्वाग्रहों के अनुसार अनुदित करने लगते हैं तभी सत्य हमारी सत्य हमारी पकड़ से निकल जाता है।'

सत्य के सम्बन्ध में जे. कृष्णमूर्ति के विचार

शब्दकोष के अनुसार सत्य शब्द का अर्थ होता है वर्तमान, विद्यमान, वास्तविक जो वस्तुतः विद्यमान हो सत्य का अर्थ सत्ता, अस्तित्व, बम्ह, परमात्मा से भी लिया गया है। स्पष्ट है सत्य शब्द का प्रयोग बड़े व्यापक अर्थों में किया जाता है। जो सदा वर्तमान है, जिसकी वास्तव में सत्ता है, जो अस्तित्वगत है, जिसका यह सम्पूर्ण विस्तार है, जो चर—अचर, दृश्य—अदृश्य सब में समना रूप से व्याप्त है, जो परस्पर विरोधों में भी समाया हुआ है, वही सत्य है।

जीवन को उसकी समग्रता से जीने से ही जीवन के लक्ष्य का अनुभव होता है। जीवन को खण्डों में नहीं बाटों जा सकता है। यह एक अखण्ड सत्ता है। परन्तु मानवीय मन जीवन को खण्डों में विभाजित करके देखने का अभ्यस्त हो गया है, जिसमें कारण अखण्ड जीवन—ज्योति का हमें दर्शन नहीं हा पाता है। जीवन हमारे तुम्हारे के रूप में खण्डों में विभाजित नहीं है, अपितु यह एक अनन्त प्रवाही है, सही वास्तविकता है, यही सत्य है और इसी की सत्ता है। जे. कृष्णमूर्ति जी कहते हैं कि अज्ञानी वह व्यक्ति नहीं है जो पढ़ना लिखना नहीं जानता वास्तव में अज्ञानी वह है जो स्वयं की सत्ता से अपरिचित है जो स्वयं की सत्ता से अनभिज्ञ है। ऐसे सत्य की खोज करना ही जीवन का लक्ष्य है।

हमारे जीवन ऊर्जा की सार्थकता इसी में है कि हम अपनी अनन्त शक्ति की खोज में लगायें अन्यथा इस शक्ति द्वारा किया गया प्रत्येक कार्य विनाश एवं पीड़ा का कारण बन कर रहा जायेगा।

मानव के अस्तित्व का केवल एक ही उद्देश्य और वह है सत्य की खोज करना, परमात्मा की खोज करना। निःसन्देह मानवीय मन, जिसमें इतनी आश्चर्यजनक महान् शक्ति है यदि सत्य की परमात्मा की खोज नहीं करता तो उसकी शक्ति द्वारा किया गया प्रत्येक विनाश एवं पीड़ा का था।

जे. कृष्णमूर्ति का आत्मज्ञान के सम्बन्ध में विचार

मनुष्य एक उभय धर्मी प्राणी है जो एक ही साथ दो प्रकार के जगत में विचरण करता है। एक जगत तो वह है जो उसे जन्म से प्राप्त है, जिसे बाह्य जगत कहते हैं जो जड़ जीवन एवं चेतना का जगत से ओत-प्रोत है। दूसरा जगत वह है जो मनाव ने विचारों द्वारा निर्मित किया है। इस आन्तरिक जगत में मनुष्य जाति के समस्त अनुभवों का सार समाया हुआ है। इन्हीं अनुभवों का समुच्चय स्व सा आत्म है, जिसे अहंकार भी कहा जाता है। क्योंकि इन्हीं अनुभव से हमारा आकार निर्मित होता है कि मैं कौन हूँ। इस स्व या आत्म का ज्ञान होता, उनका कहना है कि 'भले ही आप विश्व की समस्त उपाधियाँ प्राप्त कर ले' लेकिन यदि अपने आप को जानना है, भले ही बहुत जानकारी इकट्ठा कर ले, बहुत सा पढ़ लिख लें, परीक्षायें उत्तीर्ण कर लें परन्तु आत्म ज्ञान की उपस्थिति में ये सब जीवन के ना समझी के रास्ते हैं।'

ऐसा अनुमान कियका जाता है कि लगभग 25 लाख वर्षों से मनुष्य पृथ्वी पर रहता चला आ रहा है। उसने नाना प्रकार ध्यान का अर्थ परम्परागत रूप में मन थे किसी एक बिंदू पर एकाग्र करना या किसी मूर्ति के समझ समझ बैठकर अपने मन को उस पर केन्द्रित करना था किसी विशेष आसन तथा मुद्रा में बैठकर पवित्र मंत्रों का उच्चारण करना। कृष्णमूर्ति जी का कहना है ध्यान करने की जो पारम्परिक विधियाँ अपनायी जाती हैं उससे

बुद्धि मंद हो जाती है। इन क्रियाओं द्वारा कुछ समय के लिए मन अवश्य शांत हो जाता है।
जिसे हम ध्यान की उपलब्धि मानते हैं।

साधारणतः ध्यान एक प्रकार का अभ्यास समझा जाता है जिसे सुबह शाम है किया करते हैं। जैसे हम विभिन्न वाद्ययंत्रों का या गायन का अभ्यास करते हैं, ध्यान ऐसा नहीं है। अभ्यास हमें किसी पूर्णता की ओर ले जाता है जबकि ध्यान में कुछ न कुछ पाना होता है न ही उसकी कोई पूर्णता है। यह जान बूझकर की गयी कोई प्रक्रिया भी नहीं है। यह ध्यान न तो किसी परम्परा का रूप ले सकता है न ही इसे कोई आपको सीखा सकता है। ध्यान का पूरा अर्थ है मन का पूर्ण रूप से शांत हो जाना, मन इधर उधर भटक रहा है, कभी चेतन तो कभी अचेतन भाग में जब एकदम मौन हो जाती है तो यही ध्यान की अवस्था है। कृष्णमूर्ति जी पुनः कहते हैं ' ध्यान का अर्थ बिना किसी प्रयत्न तथा बिना किसी जोर जबरदस्ती के मन तथा मस्तिष्क को उसकी सर्वोच्च शिखर तक पहुंचाना, सर्वोच्च प्रज्ञा तक ले जाना ताकि वह असाधारण रूप से संवेदनशील हो सके। तब मस्तिष्क एकदम मौन हो जाता है। वह कृष्णमूर्ति जी के विचारों की तरह ही वर्तमान युग में संत बाबा जय गुरुदेव ने भी ध्यान के बारे में बताया है कि ध्यान की विधि बताये हैं दोनों आँखों के बीच तीसरा नेत्र है जिसे अन्दर की ओर ध्यान लगाकर देखा जाता है जिसे तीसरा नेत्र भी कहा है। उस तीसरे नेत्र से वह औलिक दिव्य दृश्य दिखाई देता है। जिसे देखने के बाद कुछ देखना शेष नहीं रह जाता है। आप उसी में रम जायेगे। वह इतना सुन्दर दृश्य होगा कि अन्य आप को कुछ देखने की लालसा नहीं होगी आपको इस संसारिक दुनिया से मोह भंग हो जायेगा। आप खुदबखुद नैतिक और सदाचारी, बहन चारी हो जायेगे ये किसी दबाव के कारण नहीं अपितु स्वयं ही ऐसी भावना आ जायेगी जो आपके विचार, आपकी भावनाओं, आपके क्रिया कलाप में परिलक्षित होने लगेगा। आपको अपनी वास्नाओं महत्वकाक्षों पर नियंत्रण हो जायेगा। ऐसे ही कृष्णमूर्ति जी के यदि आप वास्तव में ध्यान करते हैं तारे आप सदाचारी एवं नैतिक अवश्य होंगे। ऐसी नैतिकता नहीं

जो किसी अभ्यास, सामाजिक दबाव या किसी आदर्श का परिणाम है, अपितु ऐसी नैतिकता जो अपने विचार, अपनी भावनाएँ, अपने क्रिया कलापों, अपनी वासनाओं एवं आकाक्षाओं आदि के प्रति निर्विकल्प रूप से पूर्णतया सजग होने से प्राप्त होती है और इसी अवस्था में ही सही कृति का जन्म होता है। ध्यान क्या होता है? इसे रचलू कहते हुए जे. कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि ध्यान का अर्थ विचार का अन्त होना, अभी तभी एक भिन्न आयाम प्रकट होता है जो समय से परे है। ध्यान किसी साध्य का साधन नहीं है यह साध्य और साधन दोनों हैं। जो है उसको देखना और उसके पार चला जाना ही ध्यान है। मन के भीतर वह ज्योति है, जो क्रिया मार्ग को अवलोकित करती है और इस ज्योति के बिना प्रेम का कोई अस्तित्व नहीं है। ध्यान का अर्थ ऊर्जा का समग्र रूप से निर्बन्ध और निमुक्त हो जाना। मौन से जन्म लेने वाली क्रिया ही ध्यान है। ध्यान विचार से मुक्ति है तथा सत्य के आनन्द में जीना हैं। ध्यान मन की वह अवस्था है, जिसमें मन प्रत्येक जीव को पूर्ण होश के साथ समग्रता पूर्वक देखना है न कि उसके केवल खण्डों को।

जे. कृष्णमूर्ति के ईश्वर सम्बन्धी विचार

सभी धर्मों एवं दर्शन ने किसी न किसी रूप में ईश्वर की सत्ता स्वीकार की गई है। जिन दर्शनों में ईश्वर का निषेध किया गया है उन दर्शनों में भी किसी न किसी रूप में ईश्वर की सत्ता का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। भाग्यवादी दर्शन तो ऐसा मानते हैं कि ईश्वर की मर्जी के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता वही सबके सुख-दुख का दाता है, और सबके भाग्य का फैसला वही करते हैं। सबकों कर्मों के अनुसार फल देते हैं। परन्तु सुष्टिवादी दर्शन में ईश्वर को दृष्टि का कारण बताते हुए सर्वशक्तिमान सत्ता के रूप में स्वीकार गया है। कृष्णमूर्ति जी ईश्वर का निषेध तो नहीं करते, परन्तु ऐसा मानते हैं कि उस अनुभूति को विचारों द्वारा सम्प्रेषित नहीं किया जा सकता।

कृष्णमूर्ति जी ईश्वर शब्द पर कोई बल नहीं देते उनका कहना है न तो ईश्वर शब्द ही ईश्वर है न मंदिरों आदि में रखी ईश्वर की प्रतिमा ही ईश्वर है। हम तरह-तरह के विश्वासों, मतों से ईश्वर को ढांपते रहते हैं, हमने मनुष्य को कैथेलिक, हिन्दू, मुस्लिम, पारसी, बौ(के रूप में बांट दिया है, जो सब की सब मनुष्य द्वारा ही अवष्कृत संरचनाएं हैं। और मनुष्य इसका आविष्कार करके इसी में फंस गया। कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि ईश्वर असीम कालातीत है उसे मंदिरों में बंद नहीं किया सकता है। जो ईश्वर मंदिर में बंद है वह तो हमारे मिथ्या विश्वास, रूढ़ियों के भय के कारण मन की उपज है, जिसे प्रतिभाओं के रूप में महिमा मण्डित किया जाता है वास्तविक रूप से ईश्वर सर्वत्र विद्यमान है।

कृष्णमूर्ति जी के विचारों की तरह गुरुनानक जी ने भी कहा है—

‘काहे रे मन। बस खोजत जाई।

सरब निवासी सदा अलेखा, तो संग रहत सदाई

पहुंप मांहि जस ब्रस बसत है, मुकुर मांहि जस छडि।

तैसे ही हरि बलत निरन्तर, घट हें में खोजो भाई।

भीतर बाहर एक ही जानो, यह गुरु ज्ञान बताई।

कहे मानक बिनु आपा चीन्हें, मिटे न भ्रम की कोई।’

यानी— ऐ मेरे दिल तू क्यों जंगलों में खोजने जाता है वह ईश्वर सबके अन्दर है जब जगह है, कहीं दिखाई नहीं देता, लेकिन सदा तेरे साथ रहता है, जिस तरह फूल में खुशबू रहती है और जिस तरह शीशे में अक्स रहता है वैसे ही ईश्वर हमेशा सबके दिलों में रहता है, ऐ भाई। उसे अपने दिल के अन्दर ढूंढें, गुरु ने यह ज्ञान बताया है कि भीतर बाहर सब एक ही जानो, नानक जी कहते हैं कि बिना अपने आपको पहचाने जहालत की काई नहीं मिट सकती।

कृष्णमूर्ति के अनुसार— “सत्य एक पथहीन भूमि है। मनुष्य इस तक किसी संगठन किसी पंथ, किसी रूढ़िवादिता, पूरोहित या कर्मकाण्ड द्वारा नहीं पहुँचा जा सकता और न ही किसी दार्शनिक ज्ञान या मनोवैज्ञानिक तकनीक से ही। उसे तो सत्य को सम्बन्ध के दर्पण के द्वारा अपने मानस की विषय-वस्तुओं की समझ द्वारा निरीक्षण द्वारा पाना है।”

इसी तरह एक सन्त कबीर साहब ने भी किसी धर्म एवं सम्प्रदाय के कर्मकाण्डों को कट्टरतापूर्वक धारण करने तथा उसके मूल स्वरूप की उपेक्षा से ईश्वर की प्राप्ति को असम्भव समझते हैं। इसी कारण वे कहते हैं—

ना मैं जानूँ सेवा बंदगी, ना मैं घंट बजाई।
ना मैं मूरति धरी सिंहासन, ना मैं पुहुंच चढ़ाई।
ना हरि रीझे जप तप कीन्हें, ना काया के जारे।
ना हरि रीझने धोती छाड़ै, ना पाँचों के मारे।
दाया राखि धरम को मालें, जग सँ रहे उदारती।
अपना सा जिव सबको जानै, ताहि मिलै अविनासी।
सहै कुशब्द वाद को त्यागै, छाड़ै गर्व गुमाना।
सन्तनाम ताहि को मिलि है, काहे कबीन दीवाना।।

कृष्णमूर्ति जी के दर्शन का हृदय-सूत्र यह है कि सत्य के खोजी को आप्त वचनों, गुरुओं तथा परम्परागत विधि-विधानों का परित्याग कर स्वयं ही तथ्यों का वस्तुपरक एवं प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहिए। अतः प्रत्यक्ष दर्शन के लिए मनुष्य का मन, ज्ञान एवं समस्त संस्कारों से मुक्त होना चाहिए।

इसी तरह से एक मुस्लिम लेखक शेखसादी ने एक बहुत ही अच्छी किताब लिखी है— जिसका नाम ‘मा मुकीमां’ है, उसकी शुरु की और आखिरी लाइनें यह हैं :

मा मुकीमाने कूए दिल दारेम, रुख बदुनिया व दी नमी आरेम

बुलबुला नेम, कि अज कजा व कदर, ओपतादा जुदा ज गुलजारेम

मन न दानम कि अन्दर ई हैरत, व बिसाले कि दाद पैगामेम

कि व चश्माने दिल मबीं जुजदोस्त, हरचे बी विदां कि मजहरे ओस्त'

यानी—हम अपने प्रीतम परमात्मा के कूचे में रहने वाले हैं, इस दुनियाँ की तरफ या रीति—रिवाज वाले दीनों की तरफ हम मुँह नहीं करते। हम उस वारा के बुलबुले हैं, जहाँ से कजा और कद ने यानी भाग्य में हमें बाहर फेंक दिया है। अब हैरत है कि उस प्रीतम के बिसाल यानी फिर से मिलने ने हमें यह संदेशा दिया है कि अपने दिल की आँखों से जिस किसी को देखो उसे सिवाय अपने दोस्त के और कुछ न समझो, जान लो कि जो कुछ तुम कर रहे हो सब उसी प्रीतम का जुदुर है उसी का रूप है।

इस्लाम का मशहूर मकूला है— 'जिसने अपने आपको जान लिया, उसे अपने रब को पहचान लिया' अर्थात् सत्य को प्राप्त कर लिया है।

दुनिया के सब सन्त महात्माओं, अवतारों, पैगम्बरों और तीर्थकरों ने, सब बड़े—बड़े धर्मों ने और सब धर्म ग्रन्थों ने तरह—तरह से इसी एक सच्चाई को दुनिया के लोगों के दिलों पर जमाने की कोशिश की है—

पारसी गाथा में लिखा है—

'मेरी आत्मा मेरे अन्दर जागी उसने हिलाकर मुझ से पूछा तू कौन है? किसका है यहाँ क्यो है, क्या कर रहा है? इस जिन्दगी का मकसद तू कब समझेगा? उस समय मैंने समझा कि मैं ही सब कुछ हूँ, मैं ही हुनरमंद हूँ, मैं ही सब की आत्मा हूँ, सब में मैं ही रमा हुआ हूँ।'

उपनिषद् में लिखा है—

‘अपनी आत्मा को जानो, आत्मा ही एक जानने की चीज है, आत्मा ही को ढूंढो, अपनी आत्मा को जान लिया तो सारी दुनियाँ को जान लिया, आत्मा ही देखने की, सुनने की, समझने की और ध्यान करने चीज है, और कुछ है ही नहीं।’

मशहूर यूनानी सन्त सोलोन कहा करते थे— ‘अपने आप को जानो।’

कृष्णमूर्ति जी का मानना है जिज्ञासु को सदा अपनी परम्पराओं, विश्वासों एवं गुरुओं पर संदेह करना चाहिए, संदेह एक महाऔषधि है। संदेह सत्य के मन्दिर तक पहुँचने के एक अनिवार्य सीढ़ी है। आपका कहना है—

“मेरी समझ यह है कि सत्य की खोज और समझ के लिए संदेह अनिवार्य है। संदेह को उसकी प्रचण्ड कठोरता और क्रूरता के साथ आने दीजिए और उससे आप स्वयं अपनी छान-बीन कीजिए तथा जिस ज्ञान की प्रगति ज्ञान की प्राप्ति आप मानते हैं कि आपको हुई है, उसकी भी जांच-परख कीजिए।”

कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि सत्य की प्राप्ति का एक ही तरीका है और वह यह है कि अ(सत्य चीजों के जाल में न फँसकर शाश्वत सत्य की उपलब्ध के लिए अपने विश्वासों, हठधर्मों, मताग्रहों तथा कायरता एवं भय से उत्पन्न हुई सत्य की अपनी अधिकचरी समझ को एक किनारे रख दें।

इसी तरह भगवान बु(ने कहा है—

आत्म दीपो भव!

तुम अपनी आत्मा को ही अपने लिए चिराग बनाओ, अपने आत्मा का ही सहारा लो, दूसरे किसी का सहारा न लो, बाहर की सब चीजों का सहारा न लो, बाहर की सब चीजों का सहारा न लो, बाहर की सब चीजों सहारा और उनसे पैदा होने वाली इच्छाएँ और उम्मीदें सब मिट जायेगी, केवल आत्मा ही बाकी रह जायेगा। इसलिए ध्यान के साथ अपनी आत्मा को खोजने और समझने में लग जाओ।

कबीरदास जी ने कहा है—

‘मैको कहाँ खोजत है बन्दे, मैं तो तेरे पास में,
न मैं मन्दिर में न मैं मस्जिद, न काबे कैलाश में
खोजी होय तुररती मिलिहौ, पलभर की तलाश में
कहे कबीर सुनो भाई साधो, सब स्वासो की स्वास में’

योग्य भाष्य में लिखा है— ‘ईश्वर न स्वर्ग में रहते हैं न पाताल में, न पहाड़ों की कन्दराओं में, न समंदर की गहराई में, वह आदमी के दिल की गुफा में रहते हैं और उस गुफा को अपने नूर से रोशन किये हुए हैं, उसी नूर में आत्मा यह अनुभव करता है कि कोई अलग वजूद हूँ ही नहीं।’

कृष्णमूर्ति जी कहते हैं कि आप देख सकते हैं कि “युगों और सदियों के दौरान किस तरह तथाकथित नियम अनुशासन ने व्यक्ति की स्वयं पूजा की है इस प्रकार उन्होंने सत्य के साथ विश्वासघात किया है”। कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि असंतोष यह एक बहुमूल्य चीज अत्यधिक मूल्य का एक रत्न है। लेकिन इससे जो भयभीत है, वह इसका अपव्यय और दुरुपयोग करता है या फलों की प्राप्ति के लिए ही वह इसका उपयोग होने देता है। मनुष्य इससे डरता है, लेकिन यह एक अमूल्य रत्न है, बिना मूल्य का इसके साथ हस्तक्षेप न करते हुए, इसे दिन-प्रतिदिन ध्यान से देखो। यह उस लौ और लपट की तरह है जो सभी कचरे का राख कर देती है और जो चीज शेष रह जाती है, इसका कोई घर नहीं है और जो असीम अनन्त है।

स्वयं को समस्त भावात्मक और मनोवैज्ञानिक आघात से मुक्त कर लेना कितना महत्वपूर्ण है, जिसका अर्थ यह नहीं है कि जीवन के स्पन्दन के विरुद्ध (कोई अपने आपको कठोर बना ले। यही वे आघात हैं, जो विभिन्न मनोवैज्ञानिक प्रतिरोधों का धीरे-धीरे निर्माण करते हैं, जो शरीर को भी प्रभावित करते हैं— विभिन्न प्रकार की बीमारियों को लाते हुए जीवन वांछित और अवांछित घटनाओं की श्रृंखला है और जो हम दूसरे चुनाव की यह

प्रक्रिया मन और हृदय को कठोर बना देती है, यह एक घेरे के अन्दर स्वयं को बन्द कर लेने की प्रक्रिया है और इसलिए वहाँ दुःख भोग है। जीवन की गति के वांछनीय या अवांछनीय तथा गहराई तक पहुँचे— इसके लिए आवश्यक है कि अतिशय सजगता। यह हर समय सजग होने का प्रयास करने की बात नहीं है, जो कि थकाऊ है बल्कि सजगता के सत्य की आवश्यकता को देखना।

जीवन के अभिप्राय को उसके तमाम द्वन्दों एवं कष्टों को समझने के लिए हमें संगठित धर्म की सत्ता व सभी प्रकार की सत्ता से मुक्त होकर सोचना होगा।

धार्मिक वृत्ति वाले व्यक्ति बच्चों पर उन विश्वासों, आशाओं और आशंकाओं को थोप देते हैं, जिन्हें उन्होंने स्वयं अपने अभिभावकों से पाया है। दूसरी ओर वे व्यक्ति जो धर्म-विरोधी हैं वे भी बड़े उत्सुक रहते हैं कि बच्चे उस विशेष विचारधारा को स्वीकार करें, जिसका वे स्वयं पालन करते हैं। हम सभी चाहते हैं कि बच्चे पूजा-उपासना के उसी स्वरूप को स्वीकार करें जिसे हम मानते हैं। हमारी ही विचारधारा को हृदय से स्वीकार कर प्रतिमाओं तथा सूत्रों में कसना बड़ा आसान है, चाहे ये प्रतिमाएं तथा सूत्र हमारी अपनी ही रचना हों या दूसरों की और इसीलिए इस बारे में सतत जागरूकता एवं सावधानी जरूरी है।

जिसे धर्म कहते हैं, वह केवल संगठित विश्वास और उसकी रूढ़ियों, कर्मकाण्डों, रहस्यों एवं अंधविश्वासों के अलावा और कुछ नहीं है, प्रत्येक धर्म की अपनी पवित्र पोथी होती है, अपना पैगम्बर होता है, अपने पुरोहित होते हैं तथा लोगों को धमकाने एवं संगठित करने के अपने तरीके होते हैं। हममें से अधिकांश को इसी प्रकार संस्कारब(मनुष्य को मनुष्य के खिलाफ खड़ी कर देती है। सभी धर्मों का दावा है कि वे ईश्वर के उपासक हैं और उनका उपदेश कि हमें एक-दूसरे से प्रेम करना चाहिए, परन्तु वे अपने दंड तथा पुरस्कार के सि(न्तों से भय पैदा करते हैं तथा अपने-अपने प्रतिद्वन्द्वी

सि(ान्तों द्वारा संदेह व द्वेष बनाए रखते हैं।

धर्म—सि(ान्त,

रहस्य तथा कर्मकाण्ड आध्यात्मिक जीवन के लिए अनुकूल नहीं हैं। धार्मिक शिक्षा का सही अर्थ व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों, वस्तुओं तथा प्रवृत्ति के साथ अपने सम्बन्ध को समझने के लिए प्रोत्साहित किया जाए। संबंध के बिना अस्तित्व नहीं है और आत्मज्ञान के बिना हमारे समस्त सम्बन्ध द्वन्द्व और दुःख की ओर जाते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि किसी व्यक्ति को यह सब पूरी तरह समझा पाना मुश्किल है।

धार्मिक विश्वास एवं कर्मकाण्ड के नियम, आशाएं एवं आशंकाएं वास्तविक धर्म नहीं होते, ये सब बाधाएं हैं और यदि हम व्यक्ति का विकास इन बाधक प्रभावों से मुक्त होकर होने दे, तो संभवतः जैसे—जैसे वह परिपक्व होगा, वह यर्थाथ एवं ईश्वर के स्वरूप का अन्वेषण करेगा।

अधिकांश व्यक्ति जो धार्मिक किस्म के हैं, जो ईश्वर व अमरत्व की चर्चा करते हैं, व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा अखंडता में, कोई मूलभूत विश्वास नहीं रखते, जबकि धर्म का अर्थ सत्य की खोज में, स्वतंत्रता का पोषण है। स्वतंत्रता है कि नहीं, किसी प्रकार की संस्कारब(ता भी स्वतंत्रता नहीं होती, चाहे वह धार्मिक हो या राजनैतिक और वह कभी भी शांति नहीं ला सकती।

कृष्णमूर्ति जी के अनुसार धर्म का अर्थ किसी प्रकार की संस्कारब(ता नहीं है। धर्म परम शांति की एक अवस्था है, जिसमें सत्यता है, ईश्वर है परन्तु वह सृजनशील अवस्था तभी संभव होती है, जब आत्मज्ञान तथा स्वतंत्रता हो। स्वतंत्रता सद्गुण लाती है, और सद्गुण के अभाव में परम शान्ति संभव नहीं है। निरछल मन संस्कारब(नहीं होताः यह अनुशासित भी नहीं होता अथवा प्रशिक्षित करके मन को निश्चल बनाया भी नहीं जा सकता। शान्ति तभी आती है जब मन स्वयं अपनी प्रक्रियाओं को, गहराई से समझ लेता है।

आपके अनुसार धार्मिक शिक्षा का अर्थ प्रज्ञापूर्वक जागरूक रहने में वास्तविक और क्षणिक के बीच विवेक करने में तथा जीवन के प्रति तटस्थ दृष्टि अपनाने में व्यक्ति की सहायता करना।

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'सभी धर्मों की बुनियादी एकता' में लिखते हैं –

डॉ. भगवानदास के अनुसार – मन के गलियारों से सजगता को विचार का पीछा करने हो— आवरण हटाते हुए कभी चुनाव करते हुए नहीं, सदा खोज करते हुए।

मन के बारे में उपनिषदों में भी कहा गया है –

“मन दो तरह का होता है, एक शुद्ध और दूसरा अशुद्ध—अशुद्ध मन काम—संकल्प यानी नफस की तरफ ले जाता है और शुद्ध काम यानी इन्द्रियों से हटाकर नेकी और सबकी भलाई की तरफ ले जाता है।”

श्री कृष्णमूर्ति के अनुसार विचार की लहरों से पूर्णतः मुक्त एक निश्चल और अत्यन्त शान्त मन का होना वस्तुतः आश्चर्यजनक है। एक मृत मन को निश्चलता निःसन्देह शान्त मन नहीं है। इच्छाशक्ति की क्रिया द्वारा भी मन को निश्चल होने के लिए प्रेरित किया जाता है। लेकिन क्या कभी गहरे रूप से अपने सम्पूर्ण अस्तित्व से ही मौन हो सकता है? जब मन इस प्रकार मौन हो जाता है, तब जो घटित होता है वह सचमुच विस्मयकारी है। उस अवस्था में जानने और पहचानने की क्रिया के रूप में सम्पूर्ण चेतना का अन्त हो जाता है। मन, अर्थात् स्मृति की नैसर्गिक वृत्ति जनित खोज, को भी अन्त हो चुका है और यह अत्यन्त रोचक है कि तरह मन सोचते, शब्दों में अभिव्यक्त करने तथा प्रतीकों का परिष्कार करने के द्वारा उस शब्दातीत अवस्था को अपने अधिकार में करने की भरसक कोशिश करने लगता है।

श्री कृष्णमूर्ति के अनुसार "यह संसार एक अच्छी जगह है। इससे भागने के लिए हम सब कुछ करते हैं— पूजा, प्रार्थना, प्रेम और व्यय। हम अपने भीतर गहराई में कभी नहीं गये हैं और 'जो है उसकी खोज' नहीं की है।"

श्री कृष्णमूर्ति जी मुक्ति एवं आनन्द को ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य मानते हैं, और उसे ही मानव मात्र का अंतिम लक्ष्य भी बताते हैं। "मेरे जीवन का एकमात्र उद्देश्य है, लोगो की उस मुक्ति और आनन्द को प्राप्त करने में सहायता करना, जिन्हें मैं स्वयं प्राप्त कर चुका हूँ और जो सम्पूर्ण मानवता के लिए अन्तिम लक्ष्य है।"

अतः कृष्णमूर्ति जी ने सम्पूर्ण मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य मुक्ति और आनन्द की प्राप्ति है। इसका वर्णन उपनिषदों में भी है— कठोपनिषद् में ब्रह्मवेत्ता यामाचार्य और जिज्ञासु नचिकेता का उपाख्यान है। ययाचार्य ने परम जिज्ञासु नचिकेता को अनेक प्रकार का प्रलोभन दिये। नचिकेता ने इस प्रलोभनों को टुकरा कर आत्मज्ञान प्राप्ति के लिए ही यायाचार्य से अराधना की। नचिकेता ने भी आत्मज्ञान को ही अपने जीवन का चरम लक्ष्य बनाया।

मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है — परब्रह्म परमात्मा न तो प्रवचन से, न बुद्धि से और न बहुत सुनने से प्राप्त हो सकता है। यह जिसको स्वीकार कर लेता है यथार्थ स्वरूप को प्रकट कर लेता है।

"नायमात्मा प्रवचनेन लक्यो नमेधया न बहुना श्रुतेन।

यमवैषे वृणुते तेन लभ्यस्त आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्।।

— मुण्डकोपनिषद् ;3/2/3द्

इसी कटु सत्य की और नारसी भगत संकेत करते हुए कहते हैं —

"यह सारा प्रपंच व्यर्थ है, बेकार है। इससे पेट सकता है और कुछ नहीं हो सकता है। क्योंकि जब तक मनुष्य आत्मा के तत्व को नहीं समझता तब उसकी सभी साधनाएँ झूठी हैं। धार्मिक साधना के तत्व को समझे बिना सारा जीवन बेकार चला जाता है।"

ए छे परपंच सहु पेट करना तणा
आत्मा राम पर ब्रह्म न जोयो ।
भणै 'नरसैयो' तत्व दर्शन बिना
रत्म चिन्तामणि जनम खोयो ॥

– सभी धर्मों की फूलवारी, पृ0 33

ऐसे ही कबीर दास जी ने कहा है –

“ना मैं जानूँ सेवा बन्दगी, ना मैं घण्ट बजाई ।
ना मैं मूरति धरी सिंहासन, ना मैं पुहुप चढ़ाई ॥
ना हरि रीझै जप तप कीन्है, ना काया पर जोर ।
ना हरि रीझै धोती छोड़ै, ना पाँचो के मोर ॥
छाया राखि धरम को पालै, जग सँ रहे उदासी ।
अपना सा जीव सबको जानै, ताहि मिलै अविनासी
सहै शब्द, वाद को त्यागै, छाँड़ै गर्व गुमाना
सन्त नाम ताहि को मिलि हैं, कहे कबीर दीवाना

– सभी धर्मों की फूलवारी, पृ032

कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि मैं न तो किसी धार्मिक मत की शिक्षा दे रहा हूँ, न ही किसी नये प्रामाण्य को आरोपित करना चाहता हूँ, तो मेरा एकमात्र उद्देश्य है कैसे मनुष्यता मुक्त होकर शाश्वत आनन्द में निमग्न हो जाय न तो किसी प्रकार का दुःख है न ही चिंता की कोई रेखा । मैं उस जगत को पहुँच चुका हूँ, जहाँ शाश्वत आनन्द और दूसरे भी झलक पा सकें । उस दृष्टि से मैं उनकी सहायता करूँगा ।

कृष्णमूर्ति जी का दर्शन सभी प्रकार की मान्यताओं, विश्वासों और तुलनाओं से ऊपर उठकर, वस्तु के वास्तविक स्वरूप को देखने के लिए प्रेरित करता है । उनका मानना कि

मानव—मन स्वयं ही पुस्तकों की पुस्तक है, क्योंकि सभी पुस्तकों की उत्पत्ति का मूल श्रोत मानव—मन ही है। स्वयं के मन की पुस्तक का ज्ञान हो, न आत्मज्ञान का आरम्भ है। आपका कहना है कि—

“मैंने तो न तो उपनिषद पढ़े हैं न भगवद्गीता और न मानवशास्त्र के सम्बन्ध” में ही कुछ अध्ययन किया है। जब आप आत्मज्ञान की यात्रा पर निकल पड़े है, तब पुस्तकों का महत्व ही नहीं रह जाता। यह एक अद्भुत प्रदेश में प्रवेश करने के समान है, जहाँ नई वस्तुएं खोजना आरम्भ करते हैं और आश्चर्यजनक अनुसंधान करते हैं।

कृष्णमूर्ति दर्शन आत्मज्ञान में ही सभी समस्याओं का समाधान मानता है। वे आत्मा, परमात्मा, मोक्ष निर्माण तथा स्वर्ग एवं नर्क आदि विषयों को अपने दर्शन का मुख्य विषय न बनाकर मानव मात्र की वास्तविक समस्याओं पर सीधे विचार करने की प्रेरणा देते हैं, उनका मानना है कि आत्मा, परमात्मा तथा मोक्ष आदि समस्या मानव मात्र की वास्तविक समस्या नहीं है। यही कारण है कि कृष्णमूर्ति जी इन्हीं समस्याओं को अपने दर्शन का मूल विषय मानते हैं। उनका कहना है कि मानवता अज्ञान भूत के कारण नाना प्रकार के दुखों को भोग रही है, अतः हमें मनुष्य की मूलभूत समस्याओं पर गहराई से विचार करना चाहिए तथा समाधान के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

हम सब का सरोकार इस बात से है कि विश्व में क्या हो रहा है तथा उसके प्रति हमारा दायित्व क्या है— सारी दुःखद घटनाएं, परम दुर्दशा, गरीबी, बिना किसी कारण लोगों को मार डालना, अपहरण एवं हत्या की घटनाएँ— आर्थिक, धार्मिक तथा राजनीतिक विभाजन— यही सब है जो संसार में हो रहा है।

स्पष्ट है कि कृष्णमूर्ति जी का दर्शन मानवीय समस्याओं पर विचार करके उसके निराकरण को प्रस्तुत करने वाला यथार्थवादी दर्शन है, जिसमें मानवीय समस्याओं का निदान आवश्यक है।

आदर्शवादी शिक्षा दर्शन के सम्बन्ध में जे० कृष्णमूर्ति का अवधारणा

आदर्शवाद एक ऐसी विचारधारा है जो मानसिक एवं आध्यात्मि सत्ता की भौतिक सत्ता की अपेक्षा अधिक महत्व देती है। यही कारण है कि ऐसी विचारधार वाले लोगों को मनवादी या आदर्शवादी भी कहते हैं। यह दर्शन आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म आदि को भौतिक जगत से अलग देखता है। जे० कृष्णमूर्ति की राय में सृष्टि का कर्ता ईश्वर है। अब प्रश्न यह उठता है कि ईश्वर इस जगत का निर्माण किस प्रकारकर्ता है। इसकी व्याख्या जे० कृष्णमूर्ति जी ने इस प्रकार की है— इनका मानना है कि विकास की दो दिशाएं हैं— अवरोहण एवं आरोहण। ब्रह्म अवरोहण द्वारा वस्तु जगत का रूप धारण करता है इस अवरोहण के उन्होंने सात सोपान बनाये हैं — सत्—चित—आनन्द—अतिमानस—मानस—प्राण—द्रव्य। उनका तर्क है कि द्रव्यशय इस जगत में मनुष्य अपने द्रव्य रूप से आरोहण द्वारा सत् की ओर बढ़ता है। इसके भी उन्होंने सात सोपान बताए हैं — द्रव्य—प्राण—मानस—अतिमानस—आनन्द—चित्—सत्। ब्रह्मा को सत् और ईश्वर को सत्—चित्—आनन्द के रूप में स्वीकार करते हैं। परन्तु पाखण्ड को स्थान नहीं देते हैं। जे० कृष्णमूर्ति का विचार है कि ईश्वर द्वारा रचित कृति मानव में विश्वास करना चाहिए न कि मानव द्वारा रचित मूर्तियों में ईश्वर का परिबिम्ब देखना चाहिए। इनका मानना है कि प्रकृति स्वतन्त्र प्रतीत होती है। किन्तु वास्तव में वह अन्तिम सत्ता नहीं है। परम तत्व केवल आत्मा मनस् तथा चैतन्य तत्व है और उसी से प्रकृति तथा मनुष्य मात्र की व्याख्या सफलता से की जा सकती है। आत्मन ही सबसे अधिक निश्चित है क्योंकि संशय करने अथवा अस्तित्व को अस्वीकार करते समय कोई संशयकर्ता या अस्तित्वकर्ता होना अनिवार्य है। जे० कृष्णमूर्ति जी ने आदर्शवाद की व्याख्या करते हुए कहा है कि दर्शन में आदर्शवाद आदर्शों की व्याख्या तो करता है किन्तु उसका मुख्या विषय आदर्श न होकर विचार है। जिसका आज भी पर्याप्त सम्मान है। इनका कहना है कि आदर्शवाद यह मानता है कि पदार्थ अन्तिम सत्य नहीं है, पदार्थ का प्रत्यय वास्तविक है परन्तु पदार्थ का भौतिक रूप असत्य है क्योंकि यह

नाशवान है। चूंकि भौतिक सृष्टि सत्व का आभास मात्र है इस सृष्टि के पीछे कोई मानसिक सत्य है जो सृष्टि के प्रकाशन का आधार है। सृष्टि वस्तुतः तार्किक एवं मानसिक ही है इसका बाह्यरूप तो कल्पनाजन्य है। जो अन्तिम सत्य है वही वास्तविक सत्य है वही शिव है वही कल्याणकारी भी है। अन्य भौतिक पदार्थों में भद्र या शिव को देखना भ्रम है, जो सत्य है और शिव है वही वास्तव में सुन्दर भी है। संसार के भौतिक पदार्थों में सुन्दरता का आभास मात्र है अतः उसमें आसक्ति व्यर्थ है। भौतिक जगत नश्वर है, परिवर्तनशील है जबकि सत्य को सथायी एवं अपरिवर्तनशील होना चाहिए, इसलिए सत्य विचारात्मक एवं मानसिक है क्योंकि विचार एवं प्रत्यय में स्थायीत्व होता है। मानव जीवन का लक्ष्य इसी अनश्वर, अजर अमर एवं अपरिवर्तनशील आत्मा की प्राप्ति है। आदर्शवाद विकास में विश्वास करता है किन्तु उसका विकासवाद प्रकृतिवादी विकास वाद से भिन्न है। जे० कृष्णमूर्ति का कहना है कि विकास का अंति लक्ष्य आत्मा की प्राप्ति ही है न कि निचले स्तर से ऊँचे स्तर के प्राणी में विकास करना। मन तथा पदार्थ भिन्न है मन पर नैतिकता एवं आदर्शों का प्रभाव पड़ता है पदार्थ पर नहीं। मन चेतन है पदार्थ जड़ तथा जड़ से चेतनता का उदय नहीं हो सकता। इन्द्रियों की अपेक्षा मस्तिष्क अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि विचारात्मक सत्य का ज्ञान इन्द्रियों से सम्भव नहीं है। प्रकृति भी अपने आप में पूर्ण नहीं है वह भी किसी सत्य पर आश्रित है, अतः प्रकृति का ज्ञान ही सम्पूर्ण ज्ञान नहीं है। भारतीय सांख्य दर्शन प्रकृति एवं पुरुष में भौतिक भेद करता है।

पुनः जे० कृष्णमूर्ति जी कहना है कि शिक्षा और जीवन के लक्ष्य की भाँति ही आदर्शवाद अपनी पृष्ठभूमि अदा करता है यह मानता है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व महत्वपूर्ण है और व्यक्ति के भौतिक शरीर की अपेक्षा उसकी आत्मा अधिक महत्व की वस्तु है। व्यक्ति वस्तुतः आत्मा ही है। सम्पूर्ण सृष्टि प्रत्यात्मक है प्रकृति स्वयं में अपूर्ण है इसके पीछे विश्व की आत्मा का हाथ है व्यक्ति की आत्मा इसी विश्वात्मा का ही एक अंश है। इस आत्म का वास्तविक स्वरूप विशाल है, विराट है। मानव जीवन का लक्ष्य इसी आत्मा को

पहचानना या बोध करना है। कहने का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति को अपने इसी वास्तविक स्वरूप की अनुभूति करना है। आत्मानुभूति से ही हम वास्तविक सत्य का दर्शन करते हैं शिक्षा द्वारा बालक का विकास किया जाता है, विकास केवल विकास के लिए नहीं होता, वरन् विकास किसी लक्ष्य की ओर प्रेरित होना चाहिए। यह लक्ष्य चरम सत्य का दर्शन करना है उस अंतिम लक्ष्य अर्थात् सत्यम की अनुभूति में ही हमें आनन्द मिल सकता है।

जे० कृष्णमूर्ति के विचार में प्रकृतिवाद

जे० कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि प्रकृतिवाद, भौतिकवाद एवं यथार्थवाद का ही एक मिश्रित रूप है। जो जन साधारण की स्थिति सुधारने तथा समाज का कल्याण करने से सम्बन्ध रखता है। प्रकृतिवाद मनुष्य की प्रकृति को ही धर्म एवं समाज का आधार मानता है तथा मन और चेतना को पदार्थ के ही अधीन मानता है इस संबंध में जे० कृष्णमूर्ति जी पुनः लिखते हैं कि प्रकृतिवाद यह है कि मानव की प्रकृति को जाना जाय जिससे कि मानव के प्रति न्याय हो सके तथा वह अपनी सम्भावनाओं तक पहुँच सके, किसी विचार से उसके पथ में बाधा न पड़े। इससे व्यक्ति समाज एवं राष्ट्र का निर्माण सशक्त रूप में दिखायी पड़ेगा। आज के वर्तमान समाज में इसकी प्रबल आवश्यकता है। ये समूचे ब्रह्माण्ड को एक प्राकृति रचना मानते हैं। जिसमें मनुष्य सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। आपका मानना है कि मनुष्य में स्वार्थवृत्ति, असमानता, अन्याय, शोषण एवं दमन या आधुनिक सभ्यता ने पैदा किया है। इसकी पुष्टि के रूप में उनका तर्क है कि सभ्यता की दृष्टि से कम विकसित समाजों में मनुष्य ज्यादा मानवीय एवं सुखी है। क्योंकि सभ्यता के विकास के साथ-साथ उसके सहज व्यक्तित्व पर बन्धन हावी हो जाते हैं जिससे कुंठाएँ पैदा होती हैं। जो अन्य कई प्रकार की विकृतियों के रूप में अभिव्यक्ति होती है। अतः मनुष्य की प्राकृतिक स्थिति को वरेण्य मानते हुए मानव की प्रकृति की ओर विचार को महत्वपूर्ण माना है। मनुष्य की प्राकृति स्थिति से तात्पर्य यह है कि मनुष्य की सहज भावनाओं और आवेगों का सभ्यता के नाम पर दमन न किया गया। मनुष्य एक भावनाशील प्राणी है जो अपने अन्तःकरण

द्वारा निर्देशित होता है और वह स्वभाव से नेक एवं दूसरों के प्रति सहानुभूति रखने वाला है। उसकी स्वार्थवृत्ति सभ्यता के विकास की प्रक्रिया में उसके सहज व्यक्तित्व की सवतंत्र अभिव्यक्ति के दमन के कारण पैदा होती है। मनुष्य स्वभावतः नेक एवं सहयोगी स्वभाव का है यदि उसे किसी तरह के सामाजिक शोषण एवं दमन का शिकार न होना पड़े तो उसके इन स्वाभाविक गुणों का विकास और भी अधिक होगा। इसकी 'स्वतन्त्रता और शुभ' सभी व्यक्तियों की पूरे समाज की 'स्वतन्त्रता एवं शुभ' से अलग नहीं बल्कि वह इस सामान्य शुभ में ही अपनी स्वतन्त्रता की सच्ची अनुभूति कर पाता है। जे० कृष्णमूर्ति प्रकृतिवाद के प्रबल समर्थक जाने पड़ते हैं वे कहे हैं कि वास्तविक नैतिकता अन्तःकरण के प्रति ईमानदारी से विकसित होती है, नियमों एवं कानूनों से नहीं। अतः मनुष्य के व्यक्तित्व का सहज विकास होना अति आवश्यक है।

बालक एवं व्यक्ति के भविष्य के प्रति सचेत रहने के लिए जे० कृष्णमूर्ति जी आगाह करते हैं उन्होंने इस सम्बन्ध में अनेक प्रश्न उठाये हैं जैसे – कि आपके विचार में सही शिक्षा क्या है, केवल बच्चों की न किसी वर्ग विशेष के बच्चे, धनी अथवा निर्धन बच्चे, नगर अथवा ग्राम के बच्चे? आप जानते हैं कि विनाशकारी राष्ट्रवाद की दीवारें लोगों को विभाजित करती हैं। तो यह जानते हुए आप किसी बाल का कैसे विकास करेंगे? आज यंत्र मनुष्य के भ्रम का स्थान ले रहे हैं जिससे व्यक्ति को और भी अधिक अवकाश का समय मिलने जा रहा है। इलेक्ट्रानिक मस्तिष्क एवं मशीनें रहेंगी जो अपने से ही कार्य करेगी। इस प्रकार मनुष्य को एक बड़ी मात्रा में अवकाश मिलने वाला है। हो सकता है यह स्थिति तत्काल न आये परन्तु पचास अथवा सौ वर्षों में ऐसा होगा। आज विश्व में प्रौद्योगिकी उन्नत अवस्था पर है, व्यवस्था प्रणाली निरंतर बढ़ती जा रही है, सत्ता एवं अधिनायकवाद को स्वीकार लिया गया है। तो इन सबका ध्यान रखते हुए यह सोचने को बाध्य होना पड़ता है कि इस दृष्टि में शिक्षा की दशा क्या है? मनुष्य के समग्र विकास की दिशा क्या है? वह क्या है जिसे आप चाहेगें कि बालक अपने लिए खोज करे?

क्या वे सब व्यर्थ के प्रश्न हैं? यदि आप उन पर गंभीरता से विचार करें तो आपकी प्रतिक्रिया क्या होगी? मशीनें कार्यभार अपने ऊपर लेने जा रही हैं। इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति या मनुष्य का अस्तित्व दिन-प्रतिदिन एक ही सीमित होता जा रहा है। कभी-कभी यह बात उठती है कि मैं इसकी चिन्ता क्यों करूँ कि भविष्य में क्या होने वाला है? परन्तु यदि आपके पास एक बालक है, आप किन्हीं छात्रों के अध्यापक हैं, तो यदि इसके प्रति आपके पास एक व्यापक दृष्टि न हो तो आप शिक्षा के अर्थ को देख और समझ नहीं सकते। जब आप इन बालक और बालिकाओं को शिक्षित कर लेते हैं तब उसके बाद क्या होगा? अतः आज आवश्यकता इस बात की है कि केवल भारत में नहीं वरन् विश्व में जो कुछ हो रहा है उसको समग्रता से देखने का प्रयास किया जाना अति आवश्यक है। अतः जब तक इस सारी समस्या के प्रति आपकी कोई समग्र अनुक्रिया नहीं है तो शिक्षण पद्धतियों में यहाँ वहाँ पैबन्द लगाकर उन्नति करने का कोई महत्व नहीं है। अतः जे० कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि बालक की प्रकृति एवं समाज की आवश्यकताओं दोनों को ध्यान में रखकर शिक्षा होगा तभी वह व्यावहारिक एवं जीवनोपयोगी शिक्षा कहलाने का हक रखेगी तथा समाज एवं राष्ट्र को उसकी अपेक्षाओं के अनुरूप व्यक्ति खरे उतरेगा।

प्रयोजनवादी शिक्षा—दर्शन के सम्बन्ध में उनकी अवधारणा

प्रयोजनवादी विचारधारा के बारे में जे० कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि ऐसी विचारधारा जो किसी मूल्य, विचार, कार्य या सिद्धान्त को इस आधार पर स्वीकार करती हो कि उसकी मानव-जीवन के लिए व्यावहारिकता है, उसकी कोई उपयोगिता है अर्थात् उसमें कोई प्रयोजन या फल छिपा हो। उन्होंने पुनः कहा है कि ऐसा शिक्षा दर्शन जो किसी कार्य का उसके प्रयोजन एवं फल के अनुसार मूल्यांकन करता है उसे प्रयोजनवादी शिक्षा दर्शन कहते हैं। इनका मनना है कि आज विश्व में उसी ज्ञान का महत्व है। जिसका व्यावहारिक महत्व या वह उपयोगी है अतः बालकों को केवल आदर्श वाक्य एवं चिरन्तनमूल्यों से परिपाक कर विश्व में अपनी महत्ता को कायम करना बेमानी की बात

होगी। आज विश्व की मांग के अनुरूप व्यक्ति एवं बालकों को तैयार करने की आवश्यकता है जिसके लिए प्रौद्योगिकी एवं सूचना तंत्र को विकसित करना होगा। क्योंकि आज ज्ञान को पेटेंट कराने की जो प्रथा चल पड़ी है। जहाँ का बालक एवं व्यक्ति जितनी शीघ्रता से सूचनाएँ प्राप्त कर लेगा वही उन्नति के शिखर पर विराजमान होगा। अतः बालकों को जिस ज्ञान की आवश्यकता हो उसे ही केवल दिया जाय। ज्ञान तो ज्ञान है ही लेकिन उसकी सार्थकता होनी चाहिए। जे० कृष्णमूर्ति जी प्रयोजनवाद को एक मानवीय दर्शन की सज्ञा देते हुए कहते हैं कि मनुष्य क्रिया द्वारा मूल्यों का निर्माण करता है और यह भी मानता है कि वास्तविकता सदैवनिर्माण की अवस्था में ही रहती है। बिना कार्य के कोई ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता है अतः शिक्षा में कार्य को विशेष स्थान दिया जाय। आज सि(न्त को अपेक्षा व्यवहार का महत्व अधिक है क्योंकि यह उसका व्यावहारिक पक्ष होता है। अतः बालक की प्रकृति के अनुसार उसे उपयोगी शिक्षा का ज्ञान प्रदान करना होगा तभी भारत विश्व के अग्रणी देशों में अपना स्थान बनाने में सफलीभूत हो सकता है। लेकिन यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि हम केवल विकास की अंधी दौड़ में अपने को भूल न जाँए। अपने स्व को पहचानने तथा विवेक को भी जाने, तभी उस व्यवहारिक ज्ञान का सही सदुपयोग हो सकेगा परमाणु का ज्ञान व्यावहारिक रूप से उपयोगी है लेकिन अगर मनुष्य विवेकहीन हो गयी तो उसका परिणाम भयावह भी है। अतः हमारे समाज के प्रधान लोगों ने जो नीति एवं रीति बनाई है उसी के परिप्रेक्ष्य में ज्ञान एवं कर्म का समन्वय होना चाहिए। अतः बालक को विवेकशील तथा व्यावहारिक विषयों का ज्ञान देना चाहिए। बालक के लिए आप साधन जुटाएँ तथा स्वयं उसे कार्य करने को प्रोत्साहित करें तभी सही एवं सत्य ज्ञान का आभास होगा। बालक के अन्दर, अन्वेषणों – मुखी प्रवृत्ति का विकास किया जाना चाहिए—जे० कृष्णमूर्ति जी कहना है कि दर्शन के रूप में इस वाद को लाने का श्रेय चार्ल्स सेन्डर्स पीयर्स को जाता है, पीयर्स ने कहा है कि विलियम जेम्स ने इस वाद का अर्थ लगाया था “मनुष्य का लक्ष्य कर्म है” उन्होंने आगे कहा है कि तार्किक विश्लेषण का वह

सि(न्त जिसका सबसे अधिक गुण है तत्व दर्शन के प्रयत्नों को व्यावहारिक रूप देना।”
इन्होंने प्रयोजनवाद के तीन रूपों की व्याख्या की है –

1. मानवीय प्रयोजनवाद
2. प्रयोगात्मक प्रयोजनवाद
3. जीव शास्त्रीय प्रयोजनवाद

मानवीय प्रयोजनवाद का अर्थ है कि प्रत्येक कर्म मनुष्य मात्र के लाभ के लिए होना चाहिए। इनके अनुसार वही सत्य है जिसके द्वारा मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। प्रयोग द्वारा सि(सत्य पर विश्वास तथा वातावरण के अनुरूप अपने को बदलने की बात पर दूसरे तथा तीसरे व्यावहारिकतावादी रूपों को विश्वास है। विश्व की प्रगति का कारण ही प्रयोग द्वारा सि(सत्य पर आधारित है। बालक के स्थान को प्रकृतिवाद के अनुरूप ही यह वाद भी महत्व देता है। बालक को बालक मानता है न कि प्रौढ़ का छोटा रूप। उसकी आवश्यकताओं, इच्छाओं तथा रुचियों में और एक प्रौढ़ की आवश्यकताओं, इच्छाओं तथा रुचियों में अन्तर होता है। यथार्थ को परिवर्तनशील मानकर बालक को भविष्य के लिए शिक्षा देने की बात करना अनुचित है। जब हम उसके वर्तमान से ही सम्बन्धित है तो उसके भविष्य की बात किस प्रकार कर सकते हैं। शिक्षा के आदर्श परिवर्तनशील विश्व में एक से नहीं कर सकते। शिक्षा रुचिकर हो, आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली हो, समाज केन्द्रित हो तथा उसकी शक्ति समाज के विकास में लगे, इस प्रकार के सि(न्तों द्वारा शिक्षा को नवजीवन प्रदान कर सकता है और निगमन विधि, प्रयोगात्मक सि(न्तों तथा बाह्यमूल्यों आदि प्रत्ययों के माध्यम से इस वाद का महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो जाता है। समाज की आवश्यकतानुसार विषय परिवर्तन, उद्देश्य परिवर्तन, मानव की रचनात्मक क्रियाओं पर बल, विचारों को कर्म से हेय मानकर इस वाद ने पुस्तकीय ज्ञान जैसे व्यर्थ आदर्शों से बचाया है। लेकिन यह भी सत्य है कि शिक्षा का महत्व केवल इसलिए नहीं कि वह व्यक्ति की इच्छाओं की पूर्ति में सहायक है। मनुष्य को

ऐसे ज्ञान की भी आवश्यकता पड़ती है जिससे वह केवल आनन्द का अनुभव मात्र रह सके। संस्कृति तथा सभ्यता केवल बोझ नहीं है बल्कि वह मनुष्य को जीवित रहने की प्रेरणा भी देती है। इस प्रकार आत्मवाद या विचारवाद द्वारा मूर्त व्यावहारिकतावाद जीवन को पूर्ण बना सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि आदर्शवाद हमें नैतिक मूल्यों से ओत प्रोत कर एक सम्पन्नशील गुणों वाला व्यक्ति बनाता है परन्तु केवल गुणों से ही काम नहीं बनने वाला है बल्कि उसका व्यावहारिक रूप या जीवन जीने के लिए उपयोगी चीजों का प्रयोजन वाद उपयोग करने का ढंग बताता है। अतः आदर्शवाद के सि(ान्त, प्रकृतिवाद का बालक की प्रकृति एवं प्रयोजनवाद का प्रयोग पर आधारित कार्य तीनों के आधार पर शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए तभी एक स्वस्थ मस्तिष्क वाला कर्म परायण व्यक्ति पैदा किया जा सकता है जो अपने साथ ही साथ सम्पूर्ण समाज के विकास के प्रति रचनात्मक सोच रख सके।

जे0 कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि आज वर्तमान युग की यही मांग है जिससे समाज में व्याप्त भय, भ्रष्टाचार, आतंकवाद को दूर किया जा सकेगा। व्यक्ति व्यक्ति में टकराहट की सोच बदल जायेगी और एक नूतन विश्व का निर्माण हो सकेगा।

यथार्थवादी शिक्षा दर्शन के सम्बन्ध में जे0 कृष्णमूर्ति की अवधारणा

आदर्शवाद मन, आत्मा एवं ब्रह्म जैसी अभौतिक वस्तु के चिन्तन पर भी अधिक बल देता रहा है, जो मात्र बौ(िक चिंतन का विषय है। मानव जीवन की भौतिक समस्याओं की ओर लोगों का ध्यान बहुत कम जा रहा था, जब कि रोटी, कपड़ा, मकान आदि प्रमुखजीवनोपयोगी वस्तुओं से शरीर को संवारने तथा जीवन का आनन्द लेने को हेय की दृष्टि से देखा जाता रहा है। समाज के कुछ विचारकों ने आदर्शवाद के विपरीत जीवन के यथार्थ को अपने चिन्तन का आधार बनाकर यथार्थवादी दर्शन का प्रतिपादन किया। यथार्थवादी दर्शन को आदर्शवाद का पूरक माना जा सकता है। यथार्थवादियों के अनुसार, इन्द्रिय ग्राह्य भौतिक पदार्थ ही वास्तविक हैं। जिन पदार्थों का अनुभव हमारी इन्द्रियों के

द्वारा होता है, उन्हीं पदार्थों की वास्तविक सत्ता है। आध्यात्मिक सत्ता का उनके लिए कोई मूल्य नहीं रहा।

जे० कृष्णमूर्ति जी के अनुसार यथार्थवाद का अर्थ उस सिद्धान्त एवं विश्वास से है जो जगत को जैसा वह दिखायी पड़ता है, उसे वैसा ही स्वीकार करता है। मानव शरीर भौतिक जगत का ही अंग है तथा मन भौतिक शरीर का ही सूक्ष्म अंग है। अतः शरीर में ही मन की सत्ता है, मन एवं शरीर कोई पृथक् वस्तु नहीं है। यथार्थवादियों के अनुसार मन सूक्ष्म शरीर है जो इन्द्रियों के माध्यम से शरीर को नियंत्रित करता है और शरीर भौतिक जगत का हिस्सा है। अतः सब कुछ भौतिक जगत में ही समाया हुआ है, भौतिक जगत से परे कोई सत्ता नहीं है। जे० कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि चेतना ही भौतिक है उनका कहना है कि जिस प्रकार खैर एवं चूने के मूल से लाल रंग स्वतः उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार चेतना भी भौतिक तत्वों के मूल से ही शरीर में उत्पन्न हो जाती है। भारतीय दर्शन में चार्वाक दर्शन, कुछ सीमा तक सांख्य दर्शन, यथार्थवादी दर्शन है। पाश्चात्य जगत में कुछ ग्रीक दार्शनिक, बेकन, डेकार्ट लाक, आंशिक रूप में मूर आदि यथार्थवादी दार्शनिक हैं। वैज्ञानिक प्रवृत्तियों के विकास ने यथार्थवादी विश्व की रचना के मूल में प्रकृति की सत्ता को तथा इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान को प्राथमिकता दी। मनुष्य को बुद्धि एवं विवेक इसलिए प्राप्त है कि वह वास्तविकता को समझने का प्रयास करें तथा स्वतन्त्र विचारों की भावना जागृत कर एक वस्तु को यथार्थ के ताराजू पर तौलने में समर्थ हों। वैज्ञानिक खोजों का सिलसिला यथार्थवादी दर्शन की ही देन है।

जे० कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि यथार्थवाद वस्तुवादी विचारधारा है जो कि भौतिक विज्ञान और तकनीकी के विकास की दार्शनिक परिणति है। उनका कहना है कि यह दृश्य जगत एक संयोगमात्र नहीं है जैसा कि कुछ अन्य दार्शनिक मानते हैं आदर्शवाद इस सृष्टि का अस्तित्व विचारों के आधार पर मानते हैं ये कहते हैं कि वास्तविक सत्ता मनस की है न कि सृष्टि की आधारभूत प्रकृति की। मनस् पहले है प्रकृति तत्त्व बाद में

आया। प्रकृति तत्त्व मनस की प्रतीति मात्र है। मनस् यांत्रिक नहीं है वह चेतना युक्ता है जीवन युक्त है। इसके विपरीत भौतिक विज्ञान पर आधारित प्रकृतिवादी दर्शन जड़ तथा चेतन में भेद नहीं करता। वह मानता है कि जड़ और चेतन दोनों मात्र आकस्मिक घटनाएँ हैं और किसी भी समय इनका अस्तित्व समाप्त हो सकता है। उसके अनुसार प्रकृति में ही आते हैं। इसी गति के क्रम में एक स्तर पर जड़ में जीवन प्रकट होता है और दूसरे स्तर पर चेतना। इसी प्रकार व्यावहारिकता वादी दर्शन अनुभव को प्रधानता देता है। इसके अनुसार यथार्थ अनुभव में है, पदार्थों का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है मनुष्य से बाहर सत्य का कोई मूल्य नहीं है इस सब पूर्ववर्ती दार्शनिक विचार धाराओं से नितान्त अलग यथार्थवाद का अपना अलग मानना है। इस संबंध में कृष्णमूर्ति जी का कहना है कि यह विश्व विचारों पर आश्रित नहीं है विचारों का उदय मानव मन में हुआ अवश्य है किन्तु इस पृथ्वी जो मानव का आश्रय है से पूर्व भी सूर्य चन्द्र आदि ग्रह विद्यमान थे। इसलिए इस जगत का अस्तित्व मात्र विचार जन्य नहीं माना जा सकता। व्यावहारिकतावाद के अनुभव का उत्तर यथार्थवाद इस प्रकार देता है कि हमारा अनुभव स्वतंत्र न होकर वाह्य पदार्थों के प्रति अनुक्रिया का निर्धारण करता है। अनुभव वाह्य—जगत से प्रभावित है तथा वाह्य जगत की अलग अपनी वास्तविक सत्ता है। जे० कृष्णमूर्ति जी पुनः लिखते हैं कि मनुष्य को वातावरण का ज्ञान होना चाहिए। उसे यह भी पता होना चाहिए कि वातावरण को परिवर्तित किया जा सकता है या नहीं। मनुष्य की बुद्धि इसी में है कि वह इस सृष्टि की वास्तविकता का स्वीकार कर ले तथा परिवर्तनशील वातावरण के अनुरूप अपना कार्य करें। भारत के प्राचीन षड्-दर्शनों में चाय तथा वैशेषिक दर्शन यथार्थवाद के समर्थक हैं। गौतम के न्यायसूत्र के अनुसार 'प्रमाण' का अत्याधिक महत्व है। प्रमाण की उत्पत्ति प्रभा से होती है प्रभा का अर्थ यथार्थ ज्ञान या यथार्थ अनुभव है। न्यायदर्शन के अनुसार, यथार्थ ज्ञान प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान और शब्द इन चारों प्रमाणों के आधार कहलाता है अनुभाव में निगमन एवं आगमान दोनों सम्मिलित हैं उपमान के द्वारा नाम तथा नामी का

संबंध जाना जाता है। आप्तोपदेश की शब्द है। यथार्थ का ज्ञान रखने वाले पुरुष का वचन ही शब्द प्रमाण है। महर्षि कणाद के वैशेषिक दर्शन में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभावः आदि सात पदार्थों पर विचार किया गया है। वे सातों पदार्थ सृष्टि के यथार्थ रूप और मानव के यथार्थ अनुभव के ज्ञान में सहायक हैं। जैन दर्शन का 'स्यादस्ति' भी यथार्थवादी दर्शन माना जाता है ईश्वर की सत्ता के प्रति जैन दर्शन 'स्यादस्ति' या स्यान्नास्ति को मानता है जो आधुनिक वैज्ञानिक यथार्थवादी दृष्टिकोण से मिलता जुलता है कि ईश्वर की सत्ता हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है।

जे० कृष्णमूर्ति का कहना है कि शिक्षा में यथार्थवाद का उदय संकुचित, काल्पनिक एवं साहित्यिक शिक्षा के विरोध में हुआ। सोलहवीं तथा सत्रहवीं शती में इरै समस, रैबले, जॉन मिल्टन ने यथार्थवादी दर्शन में मानवतावादी विचारधार का समर्थन किया। सत्रहवीं और अठारहवीं शती में लार्ड मानटेन ने शिक्षा में सामाजिक यथार्थवाद का प्रतिपदित किया। व्यावहारिक जीवन को सफल बनाना ही सामाजिक यथार्थवाद का लक्ष्य था। इनका मानना है कि ज्ञानेन्द्रिय जन्य ज्ञान की वास्तविक ज्ञान है। कल्पना जन्य ज्ञान अवास्तविक ज्ञान है। कहने का आशय यह है कि यथार्थवाद के आगमन के साथ शिक्षा में बुद्धि और विवेक का महत्व बढ़ने लगा। लोग प्रत्येक वस्तु को समझने के लिए विवेक का आश्रय लेने लगे। गैलिलियो, कॉपरनिकस, न्यूटन, बेकन आदि विद्वानों ने विज्ञान की सहायता से सत्य की खोज करने का प्रयत्न किया, यही से शिक्षा में भी यथार्थवाद का आगमन होने लगा। जिस प्रकार शिक्षा में कृत्रिमता के विरोध प्रकृतिवाद आया उसी प्रकार पुस्तकीय एवं अनुपयुक्त शिक्षा क्रम का विरोध करते हुए शिक्षा में यथार्थवाद का पदार्पण हुआ। और यह विचार सर्वत्र आने लगा कि शिक्षा वास्तविक जगत की परिस्थितियों के अनुसार होनी चाहिए। मनुष्य को पहले मनुष्य बनना है देवता नहीं। मनुष्य बनने के लिए उसे समाज में सूखपूर्वक जीवन बिताना सीखना चाहिए।

अस्तित्वादी शिक्षा दर्शन के सम्बन्ध में जे० कृष्णमूर्ति की अवधारणाएँ

यथार्थवाद और प्रयोजनवाद की अपेक्षा अधिक नवीन दर्शन और कम से कम शिक्षा में अपने प्रभाव को अनुभव कराने वालों के रूप में अस्तित्ववाद हैं। वास्तव में अस्तित्ववाद का अभ्युदय सोरने किर्कगार्ड के विचारों से होता है। इसके प्रमुख प्रवर्तक एडमण्ड हसर्ल, मार्टिन हीडेगर एवं ज्वापाल सात्रे हैं। एडमण्ड हसर्ल वास्तव में अस्तित्ववादी न थे, लेकिन मार्टिन हीडेगर जो एडमण्ड हसर्ल के विद्यार्थी थे इस दर्शन के महत्वपूर्ण व्याख्याता थे, अपने मान उपदेशक के विचार के एक अंश में अपने अस्तित्ववाद के लिए महत्वपूर्ण संकेत बिन्दु लेकर आये। हसर्ल यथार्थ रूप से मानों दो रूपों में दृश्य प्रपंचवादी थे, उनके लक्ष्यों में से एक दृश्य-प्रपंच परक मनोविज्ञान के संबंध में था। यह अस्तित्व की घटनाओं के प्रति उस रूप में उनका विशु(दृष्टिकोण था, जिस रूप में वे इन्द्रिय प्रत्यक्षण या इन्द्रियों के उन विस्तारों द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है, खोजी या वर्णित की जा सकती है। जे० कृष्णमूर्ति जी अस्तित्ववाद के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं। कि मनुष्य जाति ऐसी विलक्षण उपाजाति नहीं है जो अस्तित्व से अलग एकाकीपन और पृथकत्व विलास चाहती है वह ठीक 'वहाँ' अस्तित्व में और अस्तित्व का है, मानों वह अस्तित्व के अन्तर्गत फेंका गया है परिणाम स्वरूप वह इससे अविलगनीय है। फेंका हुआ पन हीडेगर का प्रिय रूपक है। मनुष्य एककी और पृथक विषयी के रूप में नहीं हो सकता है जो अस्तित्व पर एक दृष्टा के रूप में अपने स्वयं के विषयनिष्ठ ढंग से दृष्टि डालता हो। न ही मनुष्य कोई एक वस्तु हो सकता है जो अस्तित्व का इतना पूर्ण रूप से अविभाज्य अंग हो कि उसका स्वयं का अपना विषय निष्ठ विचार भी न हो। वह विषयी और विषय दोनों ही एक साथ है और साथ ही अस्तित्व से बँधा भी है। मानव के अस्तित्व के आधार के रूप में उसकी प्रकृति में अस्तित्व ऐसे स्पष्ट रूप से उसके पूर्व है कि विषयी और विषय के मध्य भेद कृत्रिम है। सत्ता के साथ सहअस्तित्व रखने वाले के रूप में मनुष्य यथार्थ में ज्ञाता श्रेय के भेद क 'परे हो जाता है। अस्तित्व से बँधे होने के कारण मानव में आवश्यक रूप से कुछ मानसिक मुद्रायें होती हैं। और कम से कम वह इस आवश्यकता को टाल नहीं सकता है, क्योंकि

एक तथ्य यह है कि वह चिन्तनशील है, दूसरा तथ्य यह है कि वह सावधानी के बोझ से बोझिल है। उन बन्धनों को जो मुझे अस्तित्व और घटनाओं से बाँधते हैं तोड़ डालने के शक्ति न रखने के कारण मैं जीवन के विषय में चिन्ता को कैसे टाल सकता हूँ। और ऐसा कर भी सकता तो चिन्ता से दूर एक अवकाश का उपभोग अस्तित्व पर और न उस अस्तित्व के संबंध में मेरे भावी पर ही कोई प्रभाव डालता, जिससे चिन्ता उत्पन्न होती है।

आगे पुनः जे० कृष्णमूर्ति जी कहते हैं कि प्रत्येक एंकाकी मानव को निश्चय ही स्वीकार करना चाहिए, चाहे यह बात कितनी भी अशुभ क्यों न हो, कि उसका वर्तमान अस्तित्व उसकी स्वयं की मृत्यु, उसके स्वयं के अस्तित्व की समाप्ति की ओर प्रवाहित हो रहा है। मैं इस अटल अन्त की उपेक्षा करने का कई ढंगों से प्रयत्न कर सकता हूँ। यह भूलने का प्रयत्न करते हुए कि मैं एक ऐसी व्यष्टि हूँ जिसे अवश्य मरना है। मैं बड़ी क्रियाशीलता के साथ समूह के मानव की कर्मकाण्डीय क्रियाओं और गतिशील हलचलों में अपने को खो सकता हूँ। मेरे आस-पास इतने अधिक जीवन और हलचल होते हुए और मेरे समक्ष जीवन प्रक्रिया के कर्मकाण्डों के मध्य के समस्त विचार न करने वाले अभिनेताओं के गुजरने के साथ मृत्यु कहाँ है या अत्यधिक धर्मनिष्ठ धार्मिक कर्मों के पालन में, मैं अपनी श्र(िजलि एकमित्र के लिए अर्पित कर सकता हूँ। जो संसार से चला गया है जैसा हम कहा करते हैं और वस्तुतः मैं अपने को इस भ्रम में डुबो देता हूँ कि उस व्यक्ति के मरण की अपेक्षा जो मैं स्वयं नहीं हूँ मेरी स्वयं की मृत्यु अधिक एकाकीन होगी। इन कर्मकाण्डपरक कत्तव्यों के पालन के द्वारा अपने को विश्वास दिलाते हुए भी कि मृत्यु आखिरकार इनकी बुरी नहीं है, यह जीवन का अंग है, मैं हजारों दूसरे व्यक्तियों के सहित अपने स्वयं से यह कहता हूँ लेकिन इस दुखान्त को कहने का प्रयत्न नहीं करता हूँ जो मेरे अस्तित्व के अन्त को चिन्हित कर देता है।

जे० कृष्णमूर्ति जी चिन्ता मृत्यु एवं अवस्तुता को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि चिन्ता जीवन की परिस्थितियों में किसी अनिश्चितता के परिणाम के प्रति चिन्तित होना

नहीं है बल्कि यह सामान्य मनोवैज्ञानिक चिन्ता है और वास्तव में अस्तित्ववादी चिन्ता कदापि नहीं है। यथार्थ में अस्तित्ववादी चिन्ता की कोई वस्तु ठोस मानव में अनुभव नहीं होती और न यह कोई वस्तु रख सकती है। यह एकसा शब्द है जो अपने प्रसंग में अपेक्षाकृत अधिक व्यापी है और साथ ही जिसका यह निर्देश करता है वह मनुष्यों द्वारा सरलता से भुला दिया जाता है क्योंकि उसका ध्यान दिन-प्रतिदिन के क्रियाकलापों द्वारा रूप से समाप्त कर दिया जाता है।

जे. कृष्णमूर्ति जी मृत्यु के सम्बन्ध में सरलतम बात यह कहें कि प्रत्येक मनुष्य को स्वयं अपने लिए मृत्यु का व्यक्तिकरण अवश्य कर लेना चाहिए। कहने का मतलब यह है कि मृत्यु मेरे स्वयं के आत्मत्व की तथ्यता का अंग है, यह कुछ ऐसी वस्तु नहीं है जिसे भावात्मक रूप से आत्मा की भावी संभाव्यताओं में से एक के रूप में अनुभव किया जाना है। मनुष्य एक साथ विषय और वस्तु दोनों रूपों में अस्तित्व रखता है। उसके अस्तित्व में से किसी को हटाना स्वेच्छाचारिता है और उसे अस्तित्वहीन बनाना है।

परम मुक्तिवादी शिक्षा-दर्शन के सम्बन्ध में जे कृष्णमूर्ति की अवधारणा

जे. कृष्णमूर्ति जी इसके बहुत बड़े समर्थक रहे हैं और उनका कहना है कि यह शिक्षा, दर्शान आदर्शवादी शिक्षा दर्शन का अभिनव स्वरूप है जो सत्य की खोज को ही जीवन का परम उद्देश्य मानता है। इसकी अन्तिम परिणति परममुक्ति है अतः इसे परमुक्तिवादी भी कहते हैं। इस दर्शन का मुख्य उद्देश्य यह है कि मनुष्य परम्पराओं, विश्वासों, मत, सम्प्रदायों तथा धर्मों आदि की परिसीमाओं से मुक्त होकर उस अवस्था को प्राप्त कर ले जहाँ न सुख है न दुःख अपितु दोनों को पार परमानन्द की अवस्था है। यह दर्शन मानव मन के मूलभूत परिवर्तन में विश्वास करता है। तथा मानव मन के इसी परिवर्तन में विश्वास करता है तथा मानव मन के इसी परिवर्तन में नूतन संस्कृति एवं नूतन विश्व की रचना करना चाहता है। यह एक ऐसा दर्शन है जो वाह्य एवं अभ्यंतर का विभाजन हमारे मन का ही विभाजन है। शरीर मन एवं चेतना मूलतः अलग चीजे नहीं हैं अपितु वे

एक ही है। शरीर स्थूल चैतन्य है जबकि चैतन्य सूक्ष्म शरीर है और मन दोनों के बीच की अवस्था है।

जब मन, बुद्धि एवं हृदय की सम्पूर्णता से किसी भी मानवीय समस्या का उसकी वास्तविकता में अवलोकन किया जाता है तो वह स्वयं ही सत्य को उद्घाटित कर देता है। जीवन की सम्पूर्णता को उसके वास्तविक अर्थों में स्वयं ही सत्य को उद्घाटित कर देता है। जीवन की सम्पूर्णता को उसके वास्तविक अर्थों में समझना एवं उसके पार चले जाना ही वास्तविक मुक्ति है। चैतन्य की इसी अवस्था में सतचित् आनन्द का अनुभव होता है जो जीवन का चरम लक्ष्य है। अभिनव आदर्शवादी शिक्षा दर्शन में सभी दर्शनों का समावेश है, क्योंकि यह दर्शन आत्मा परमात्मा की खोज के साथ-साथ मानव जीवन को सुखमय बनाने के लिए जीवन के सम्पूर्ण आवश्यक अवयवों को उनकी गहराई तक समझने पर बल देता है।

उन्होंने आगे कहा है कि सत्य का परिसीमन ही जीवन का बन्धन है। मुक्ति, बंधन का विपरीत नहीं है अपितु तथ्यों को देखना एवं उसके पार चले जाना ही मुक्ति है। स्वयं के अस्तित्व को जानना है कि 'मैं कौन हूँ' मुक्ति का प्रथम सोपान है और आत्मज्ञान में ही मानव जीवन की सम्पूर्ण समस्याओं का निदान छिपा है वास्तविक शिक्षा जीने की ऐसी कला सिखाती है जिससे मनुष्य अपने मन बुद्धि एवं अहंकार को उनकी सम्पूर्णता में समझता है।

मानवतावादी शिक्षा दर्शन के सम्बन्ध में जे.कृष्णमूर्ति की आवश्यकताएँ

जे. कृष्णमूर्ति मानव को प्रकृति की सबसे अनोखी कृति के रूप में देखते हैं वे कहते हैं कि मानव प्यार के काबिल अपने धन, वैभव, ऐश्वर्य एवं ज्ञान के कारण नहीं बल्कि इसलिए है कि वह एक मानव है। आगे इन्होंने कहा है कि इस वाद का उदय द्वितीय विश्व यु(की विभीषिका के कारण हुआ है। वर्तमान युग मशीनी युग के रूप में प्रतिस्थापित

हो रहा है ऐसी परिस्थिति में मानव का महत्व धीरे-धीरे गौण रूप में होता जा रहा है। इसी के परिणामतः इस वाद का उदय हुआ। आज इसकी आवश्यकता भी महसूस की जा रही है, व्यक्ति, व्यक्ति को महत्व न देकर वह धन, वैभव, शिक्षा, पद प्रतिष्ठा आदि को महत्व दे रहा है जिससे मानव की महत्ता कम होती जा रही है। यह सम्पूर्ण संसार मानव के विचारों से ही निर्मित है जो भी चीजे बनायी जा रही है वह भी कोई न कोई मानव ही तैयार कर रहा है ऐसी स्थिति में मानव के महत्व को कम आंकना बेमानी है। इनका कहना है कि मनुष्य सच्चा मनुष्य बना रहे इतना ही पर्याप्त है। सच्चे मनुष्य से इनका तात्पर्य यह है कि मानव को मनुष्य मात्र पर श्र(ा हो जो वसुधैव कुटुम्बकम की भावना रखता है जो अपना धर्म, संकीर्णता और राष्ट्रीयता की भावना की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय, भ्रातृभावना सभी धर्मों के प्रति सम्मान की भावना रखता हो।

जे. कृष्णमूर्ति जी मान को अपने भाग्य का निर्माता स्वयं मानते हैं वे मनुष्य को पूर्ण स्वतंत्र प्राणी घोषित करते हैं, जो प्रायः अपनी इच्छा के अनुसार भाग्य का निर्माण कर सकता है। यहाँ मनुष्य को महत्व देने के कारण प्रायः तत्वमीमांसा की उपेक्षा की जाती है। परन्तु प्रकृतिवादी मानव तत्व मीमांसा का समर्थन करता है क्योंकि इससे उसे मानव को स्वतंत्र प्राणी घोषित करने में सहायता मिलती है। आगे कृष्णमूर्ति जी लिखते हैं कि मनुष्य अपनी प्रारम्भिक अवस्था में घटनाओं की व्याख्या के लिए दैवी शक्तियों पर निर्भर था, किन्तु अब वह प्रत्येक घटना के कारण का पता लगा लेता है। वह जानता है कि कुछ निश्चित नियम घटनाओं के घटित होने के कारण हैं। इससे धर्म को धक्का तो लगी किन्तु इसके स्थान पर मनुष्य ने एक दूसरी महान सत्ता को अपने हृदय में स्थान दिया है वह है मानवता, जिससे हमारा सदैव सम्बन्ध रहता है तथा जिसकी हम निष्ठापूर्वक सेवा कर सकते हैं।

जे. कृष्णमूर्ति जी ने मानववाद को अनेक रूपों में व्यक्त किये हैं जिसमें धर्माश्रित मानववाद आदि दैविकता विरोधी वीरोधित मानववाद, सृजनात्मक मानववाद, वैज्ञानिक मानववाद एवं प्रकृतिवादी मानववाद प्रमुख है।

धर्माश्रित मानववाद को स्पष्ट करते हुए इन्होंने कहा कि मानव कल्याण के लिए धर्म बाधक नहीं है बल्कि उनका सहयोगी है। यद्यपि विश्व में सभी प्राचीन धर्मों जैसे— यहूदी, ईसाई, इस्लाम, हिन्दू आदि ने मानवमात्र की सेवा पर जोर दिया है किन्तु यहाँ पर लौकिकता की चर्चा अधिक हुई है तथा मनुष्य को भौतिक सुखों से विरत करने पर अधिक जोर दिया गया है। लेकिन वास्तव में धार्मिक पूजा न केवल ईश्वर की ही पूजा है वरन् निःसहयों, गरीबों और मानववाद की सेवा है।

आधिदैविकता— विरोधी मानवतावाद के सम्बन्ध में जे. कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि विभिन्न धर्म कभी एकमत नहीं हो सकते और हमेशा एक—दूसरे से टकराकर मानव कल्याण पर आघात करते हैं। वे या तो धर्म विरोधी हो जाते हैं या फिर धर्म सहिष्णु बनकर मानवतावाद का समर्थन करते हैं। इटली में 14वीं एवं 15वीं शताब्दियों में इसी प्रकार के मानववाद की हवा चली थी। उन्होंने ईसाई धर्म का विरोध नहीं किया किन्तु अपने सि(न्त में नागरिक दायित्व और धर्म सहिष्णुता को अत्यन्त महत्व दिया। उन्होंने कहा है कि वास्तव में मानवतावाद समस्त मानव जाति का विश्व दर्शन है जो विभिन्न जातियों और संस्कृतियों के व्यक्तियों और संख्य संतानों के दार्शनिक एवं नैतिक मार्गदर्शन में समर्थ हो सकता है। इन्होंने यह भी माना है कि वर्तमान युग वैज्ञानिकता की ओर उन्मुख है ऐसी दशा में अधिक दैविकता पर पूर्ण विश्वास करना सर्वथा अनुचित है, इसके बदले में हमें विज्ञान को भी अपनाना चाहिए, क्योंकि यह हमें निश्चितता प्रदान करता है।

विरोधित मानवतावाद के सम्बन्ध में जे. कृष्णमूर्ति जी का मानना है कि मनुष्य विरोधित जीवन के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता। वीरता के समान मनुष्य में सामान्यतः पायी जाने वाली और कोई चीज नहीं है। लेकिन वरीयता का तात्पर्य कमजोर व्यक्ति को

दबाने से नहीं बल्कि गलत कार्यों का डटकर मुकाबला करने से है। साम्राज्यवादी विचार एवं वीरता दोनों चीजे हैं वहाँ एक तरफ लोभ, मया आदि का वर्चस्व रहता है वही दूसरे तरफ त्याग की भावना, समर्पण की भावना, न्यौछावर की भावना कार्य करती है। वह स्वस्थ मानसिकता वाला व्यक्ति होता है।

सृजनात्मक मानवतावाद की वकालत लगभग द्वितीय विश्व यु(के बाद शुरु की जाने लगी। सृजन से व्यक्ति में आशा का संचार होता है और यही आशा ही जीवन है। स्वजनात्मकता वास्तव में मनुष्य में तर्क प्रणाली के द्वारा नहीं बल्कि आत्मानुभूति से इसका सम्बन्ध है। यह मुख्यतः चार रूपों में प्रकट होती है—

1. मानव द्वारा प्रकृति में अपनी उपयोगिता और सौन्दर्यमूलक प्रयोजन के लिए परिवर्तन व्यक्ति की सृजनशीलता को प्रकट करते हैं इसी से प्रकृति में नगरों के कृत्रिम परिवेश का मनुष्य निर्माण करता है।
2. वस्तुओं तथा घटनाओं के प्रति मनुष्य यांत्रिक एकरूपता एवं सुनिश्चित प्रक्रिया न प्रकट करके परिवर्तनशील प्रतिक्रियाओं के द्वारा भी अपनी सृजनशीलता करता है।
3. मनुष्य की प्रतिक्रियाओं की सीमा में लगातार विस्तार भी उसकी सृजनशीलता का परिचायक है। मनुष्य का अपने जीवन में परिवर्तन चाहना, दूसरे साथियों के साथ समाज में बैठना, साहित्य पढ़ना, यात्रा के प्रति प्रेम आदि इसी के कारण होते हैं।
4. मानव की प्रतीक कल्पनामूलक रचनाएँ जैसे कविता, कथा साहित्य, वैज्ञानिक तथा दार्शनिक प(तियों का निर्माण, योजनाएँ और आदर्श भी उसकी विशेष प्रकार की सृजनशीलता को व्यक्त करते हैं।

प्रकृतिवादी मानवतावाद के सम्बन्ध में जे. कृष्णमूर्ति जी का विचार है कि मानव स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है तथा मनुष्य अपने प्रत्येक कार्य में स्वतंत्र है। मनुष्य चाहे जिस देश, जाति, रंग या धर्म का हो सबको समान आर्थिक और सांस्कृतिक स्वतंत्रता का अधिकार है, उन्नति के रास्ते सभी मनुष्यों के लिए समान रूप से खुले होने चाहिए। वास्तव में

मानवतावाद विश्व शान्ति का समर्थक है, इसके लिए यह वह विश्व जनतंत्र की स्थापना चाहता है जो विश्वव्यापी समाज के हित में हो। इस विश्वव्यापी व्यवस्था के आधार पर समग्र मानव जाति की प्रगति हो सकती है तथा शान्ति का यही एकमात्र उपाय भी है। जे. कृष्णमूर्ति जी ने पुनः कहा है कि मानवतावाद सर्वकल्याण में विश्वास करता है। इसके अनुसार व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास अन्य व्यक्तियों के कल्याण के माध्यम से ही कर सकता है। इस तरह मनुष्य के सामाजिक रूप पर मानवतावाद जोर देता है। इनका मानना है कि प्रकृति से मानव के विकास पर बल देना चाहिए, जिसमें कला एवं सौन्दर्य चेतना का पुट हो, क्योंकि इससे मानव जीवन सर्वांगपूर्ण और सौन्दर्यमय बनता है। अतः ये मानव आदर्श और उद्देश्य को मानव जीवन का महत्वपूर्ण उत्प्रेरक मानते हैं।

जे. कृष्णमूर्ति का मानव एवं उसकी परमागति के सम्बन्ध में विचार

जे. कृष्णमूर्ति जी का दर्शन मुख्य रूप से मानव एवं उसकी परमागति से ही सम्बन्धित है। उनका कहना है कि संसार में मानव की वर्तमान सत्ता ही सब कुछ नहीं है बल्कि इससे भी आगे कुछ है जिसे पाना मनुष्य का लक्ष्य होता है। जिसको दूसरे शब्दों में उच्चतम परमागति की संज्ञा दी जा सकती है। मानव एवं मानवता के लिए उनके अन्दर तीव्र सहानुभूति थी। यह इस निष्कर्ष पर नहीं ले जाता कि उन्होंने मानवतावादी दर्श को बढ़ावा दिया है क्योंकि उन्होंने यह नहीं कहा कि इस ब्रह्माण्ड में मानव ही सब कुछ है बल्कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही उच्चतम विकास के लिए सर्वदा गतिशील है। मानव को उच्चतर मानसिक परमागति की प्राप्ति क्रम विकास द्वारा करना है, एक महान भविष्य उसके लिए प्रतीक्षा कर रहा है। मानव की वर्तमान असंतुष्टि इस तथ्य को इंगित करती है उसका भविष्य कही प्रतीक्षा कर रहा है जिसके लिए वह लालायित है। यह भीतर का उच्च स्वास दिव्य मनस की है जो मानव के बीज के रूप में अवस्थित है। इसलिए मानव जीवन और उसकी परमागति बौद्धिक विचार की तरफ अंकुश लगाने वाला सिद्धान्त है। अर्थात् यह वहीं अंकुश है जो बौद्धिक विचार तक जाने से उन्हें रोकता है। मानव जीवन और परमागति ही

यह स्पष्ट कर देती है कि उनका दर्शन बौद्धिक नहीं बल्कि व्यावहारिक है यद्यपि की इसमें बौद्धिक तो है ही फिर भी व्यावहारिक क्षेत्र में भी कम नहीं है। जे. कृष्णमूर्ति के अनुसार हमारा अन्तिम परमागति अतिमनस ही है। अपने को धीरे-धीरे विकसित करते हुए मानव की महामानवता की धारा प्राप्त होगी। वहीं है मानव की परिणति, वही है मनुष्य जीवन की श्रेष्ठ का अन्तिम आदर्श परन्तु क्रम विास यही समाप्त नहीं हो पाता बल्कि क्रम विकास की प्रक्रिया भी चलती रहती है है जब सच्चिदानन्द की प्राप्ति न हो जाये।

जे. कृष्णमूर्ति जी ने विकासवाद की तीन मुख्य विशेषताएँ रेखांकित की हैं— विस्तारण, उर्ध्वीकरण एवं समग्रीकरण। विस्तारण का अर्थ विभेदीकरण, संगठन तथा अभिव्यक्ति की विविधता देह के संगठित तथा जटिल हो जाने पर उससे जीवन प्रकट होता है। इसी प्रकार जीवन के शरीर के अधिकाधिक जटिल हो जाने पर मन प्रकट होता है, परन्तु साथ ही उर्ध्वीकरण की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। उर्ध्वीकरण का अर्थ फैलाव या विस्तार नहीं है बल्कि चेतना का एक-दूसरे स्तर पर आरोहण है परन्तु विकास प्रक्रिया की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है उसकी समग्रता एवं अखण्डता। इसके फलस्वरूप निम्न तत्व का विकास होने पर वह भी नष्ट नहीं हो पाता, अपितु उच्चतर तत्व से वह अनुप्राणित एवं जीवन्त हो उठता है। जैसे— जड़ पदार्थ से जीवन के प्रकट होने पर उसका अस्तित्व नहीं मिटता और न ही मन में प्राकट्य पर जीवन नष्ट होता है। जबकि पाश्चात्य विकास वाद के सिद्धान्तों के अनुसार उच्चतर तत्वों का आविर्भाव होने पर निम्नतर तत्वों का लाभ होना या अपनी पूर्व की स्थिति में बना रहना अनिवायर्च्य है। भारत का अद्वैत दर्शन भी इसी दोष से दूषित है क्योंकि इसके अनुसार मानव को विकास के निमित्त आत्मा से शरीर तथा जीवन के निम्नतर तत्वों को सर्वथा पृथक कर देना चाहिए।